ॐ

श्री वीतरागाय नमः

श्रीपाल चरित्र

(कविवर पण्डित परिमल्लजी द्वारा रचित
काव्यमय श्रीपाल चरित्र का श्री दीपचन्दजी
वर्णी द्वारा रचित भाषानुवादसहित)

सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियां, भीलवाड़ा (राज०)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत	वीर संवत	ई. सन
2080	2550	2024

—: प्रकाशन :—

भगवान महावीरस्वामी जन्म जयन्ती

के अवसर पर दिनांक **21 अप्रैल 2024**

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046

www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर,** अलीगढ़।

प्रकाशकीय

श्री कोटिभट्ट श्रीपाल चरित्र अर्थात् श्रीपाल-मैनासुन्दरी चरित्र का प्रस्तुत संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। यह ग्रन्थ प्रथमानुयोग का सुप्रसिद्ध चरित्र है, जिसके माध्यम से संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल और महन्त पुरुषों की प्रवृत्ति दर्शाते हुए जीवों को धर्ममार्ग में लगाया गया है। वस्तुत: सोपार्जित शुभाशुभ कर्मों का फल जीव को स्वयं ही भोगना पड़ता है। उसमें कोई किसी का सहायक नहीं होता। कर्म, कर्मोदय एवं तदजन्य परिस्थितियाँ प्रवर्तित होती रहती है। किन्तु धन्य हैं वे ज्ञानी जो इन विषम परिस्थितियों में भी अपने आत्मधैर्य को न तजते हुए समस्त परिस्थितियों के ज्ञातामात्र रहकर निरन्तर आत्महित में तत्पर रहते हैं एवं अपनी आत्मसाधना की उग्रता द्वारा समस्त विकारों और कर्मों का अभाव करके मुक्तदशा का वरण करते हैं।

प्रस्तुत चरित्र ग्रन्थ के नायक श्रीपाल एवं उनकी धर्मवत्सल पत्नी मैनासुन्दरी का जीवन इस दृष्टि से अनुकरणीय है। सभी आत्मार्थीजन इस ग्रन्थ का स्वाध्याय कर निजआत्महित साधें, इसी पवित्र भावना के साथ -

निवेदक

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

विलेपार्ला, मुम्बई

विषय सूची

१.	मंगलाचरण स्तुति	१
२	वर्तमान चौबीसी जिनस्तुति	२
३.	ग्रन्थ रचना का कारण	३
४.	अंगदेश चम्पापुरी का वर्णन	६
५.	श्रीपाल के गर्भ का वर्णन	८
६.	श्रीपाल के जन्म का वर्णन	१०
७.	श्रीपाल का राजतिलक और राजा अरिदमन का कालवश होना	१३
८.	श्रीपाल को कुष्ट व्याधि का होना	१४
९.	श्रीपाल का वीरदमन को राज्य देकर वनवास को जाना	१६
१०.	मैनासुन्दरी का वर्णन	१९
११.	मैनासुन्दरी का श्रीपाल से विवाह	२९
१२.	श्रीपाल का कुष्ट रोग दूर होना	४५
१३.	श्रीपाल की माता का श्रीपाल से मिलना	५७
१४.	उज्जैनी से श्रीपाल का गमन	७०
१५.	विद्याओं की सिद्धि	८३
१६.	धवलसेठ का वर्णन	८६
१७.	धवल सेठ को चोरों से छुड़ाना	९२
१८.	डाकुओं की भेंट	९६
१९.	रयनमंजूषा की प्राप्ति	९७
२०.	श्रीपालजी की विदा	१०९

२१.	समुद्र-पतन	११३
२२.	धवलसेठ का रयनमंजूषा को बहकाना	१२४
२३.	धवलसेठ का रयनमंजूषा के पास जाना और देव से दण्ड	१२६
२४.	श्रीपाल का गुणमाला से विवाह	१३५
२५.	कुंकुमद्वीप में धवलसेठ	१४०
२६.	भाँडों का कपट	१४३
२७.	शूली की तैयारी	१४६
२८.	रयनमंजूषा का श्रीपाल को छुड़ाना	१५०
२९.	श्रीपालजी का चित्ररेखा से विवाह	१५४
३०.	श्रीपाल का अनेक राजपुत्रियों से विवाह	१५५
३१.	श्रीपाल का उज्जैन को प्रयाण	१५९
३२.	श्रीपाल का कुटुम्ब-मिलाप	१६२
३३.	श्रीपाल का पहुपाल से मिलाप	१६७
३४.	श्रीपाल का चंपापुर जाना	१७०
३५.	श्रीपाल का काका वीरदमन से युद्ध	१७५
३६.	श्रीपाल का राज्य करना	१८२
३७.	श्रीपाल के भवान्तर	१८८
३८.	राजा श्रीपाल का दीक्षा लेना	१९४
३९.	श्रीपाल मुनि को केवलज्ञान की प्राप्ति	१९९

श्रीपाल चरित्र

मंगलाचरण

वीतराग सर्वज्ञ जिन, हित उपदेशक देव।
शिवमग दर्शक आप्त नित, नमूँ करुँ पद सेव।।१।।
विषयारम्भ परिग्रह बिन, गुरु नमों निर्ग्रन्थ।
कायर जिनको जिन कियो, सरल मोक्ष को पंथ।।२।।
ॐकार वाणी नमूँ, द्वादशांग उर धार।
श्री श्रीपाल चरित्र की, करूँ वचनिका सार।।३।।

पंच परमेष्ठी–स्तुति

कर्म घातिया नाशकर, छहो चतुष्क अनन्त।
नमूँ सकल परमात्मा, वीतराग अर्हन्त।।४।।
नित्य निरंजन सिद्ध शिव, मूर्तिरहित साकार।
अमल निकल परमात्मा, नमूँ त्रियोग सम्हार।।५।।
दीक्षा शिक्षा देत जो, सकल संघ के ईश।
ऐसे सूर मुनीन्द्र को, बन्दूँ कर धर शीश।।६।।
द्वादशांग श्रुत निपुण जे, पढ़ें पढ़ावें धीर।
ऐसे श्री उवझाय मुनि, वेग हरो भवपीर।।७।।
विषयारम्भ निवार के, मोह कषया बिडार।
तजे ग्रन्थ चौबीस जिन, साधु नमूँ सुखकार।।८।।
पंच परम पद मैं नमूँ, आठों अंग नवाय।
जा प्रसाद मंगल लहूँ, कोटि विघ्न क्षय जाय।।९।।

वर्तमान चौबीसी जिनस्तुति

नमों मैं प्रथम ऋषभ चरणा,
दूजे अजित अजित रिपु जीते, ध्याऊं अघहरना।
तीजे संभव भव नाशे,
चौथे अभिनन्दन पद सेऊँ, कर्म नशैं जासे।।

पंचम सुमति-सुमति दाता, छट्ठे पद्मनाथ पद पंकज सेऊँ सहुँ साता।
सातवें श्रीसुपार्श्वनाथा, आठें चन्द्रनाथ जिनचरणों नाऊँ जिनमाथा।।

नवमें पुष्पदंत-संता, दसवें शीतलनाथ जिनेश्वर देत शर्मऽनन्ता।
ग्यारहवें श्रेयांसस्वामी, वासुपूज्य बारहवें ध्याऊँ तीनलोकनामी।।

तेरहवें विमल विमल जानो, अनंत चतुष्टययुत चौदहवेंऽनंतनाथ मानो।
पन्द्रहवें धर्मशर्म करता, सोलहवें श्रीशांतिनाथप्रभु भवाताप हरता।।

सत्रहवें कुन्थुनाथस्वामी, अरहनाथ अरिगणबसुनाशक अठारहवें नामी।
उनीसवें मल्लिसल्ल चूरे, विंशतिवें मुनिसुव्रतस्वामीव्रत अनंत पूरे।।

इकीसवें नमिनाथ देवा, बाईसवें श्रीनेमीनाथ शत इन्द्र करें सेवा।
तेईसवें पार्श्वनाथ ध्याऊँ, चौबीसवें श्रीवर्धमान की भक्ति हिये भाऊं।।

तीर्थंकर चौबीसों नामी,
पंचकल्याण धारी सब ही, शिवपुर विसरामी।
विनय यह 'दीपचन्द' केरी,
जब लग मोक्ष मिले नहीं, तब लग लहूं भक्ति तेरी।।

यह विधि कर जिन स्तुति, भक्ति भाव उर माय।
करूँ वचनिका ग्रन्थ की, शारद करो सहाय।।

ग्रन्थ (चरित्र) रचना का कारण

असंख्यात द्वीप समुद्रों के मध्य नाभि के तुल्य एक जम्बू नामक द्वीप है। मध्यलोक के मध्यवर्ती नाभि के तुल्य इस जम्बूद्वीप में बीचों-बीच सुदर्शन मेरु नाम का एक लाख योजन ऊँचा पर्वत है, जिसके दक्षिण उत्तर छह कुलाचल पर्वत हैं। उनसे इसके सात क्षेत्र हो गये हैं। उन क्षेत्रों में से दक्षिण दिशा में धनुषाकार यह भरतक्षेत्र है। जिसके बीच में वैताढ्य पर्वत तथा महागंगा और सिन्धु नदी बहने से प्राकृतिक छह भाग हो गये हैं। सो आस-पास तथा ऊपर मिलकर पाँच म्लेच्छ और दक्षिण भाग में एक आर्यखण्ड है। उसके मध्य भाग में मगध देश है जिनमें एक राजगृही नाम की नगरी है। यह नगरी अत्यन्त शोभायमान और धन जनकर पूर्ण है, जहाँ बड़े-बड़े विशाल मन्दिर बने हुये हैं। तथा जो वन उपवन कोट, खाई, ताल, बावड़ी आदि से अति रमणीक मालूम होती है।

यहाँ महामण्डलेश्वर महाराज श्रेणिक राज्य करते थे। यह राजा अत्यन्त नीतिनिपुण, न्यायी, प्रजा-वत्सल, प्रतापी और धर्मात्मा थे। इनके राज्य में दीन-दु:खी पुरुष दृष्टिगत ही नहीं होते थे। इनकी मुख्य पटरानी चेलना बहुत ही धर्मपरायण और पतिव्रता थी और इनके वारिषेण, अभयकुमारादि बहुत से गुणवान पुत्र थे।

तात्पर्य यह है कि सब प्रकार से राजा-प्रजा अपने-अपने संचित पुण्य का भोग करके भी आगे को पुण्योपार्जन करने में किसी प्रकार कमी नहीं करते थे। अर्थात् दान, पूजादि गृहस्थोचित षट्कर्मों में तथा धर्म में भी पूर्ण योग देते थे।

एक समय जब राजा श्रेणिक राज्यसभा में सिंहासनारूढ़ थे, उसी समय वनपाल (माली) ने आकर छहों ऋतु के फल-फूल राजा को भेंट किये और प्रार्थना की कि हे नरेन्द्र! 'विपुलाचल पर्वत' पर चतुर्विंशति तीर्थंकर श्री महावीरस्वामी समवसरणसहित पधारे हैं। ये सब फल-फूल उनके ही प्रभाव से बिना ऋतु आये फले और फूले हैं। चारों ओर कूप तालाब और सरोवर भरे हुये दृष्टिगोचर होते हैं। वन के सब जाति विरोधी जीव जैसे-सिंह और बकरी, मूसा और बिलाव आदि परस्पर मैत्री भाव से बैठे हैं।

हे स्वामी! वहाँ दिन-रात का भी कुछ भेद मालूम नहीं पड़ता है, ऐसी अद्‌भुत शोभा है, जिनका वर्णन होना कठिन है और वहाँ सुर-नर-पशु सभी दर्शन करके आत्मकल्याण का मार्ग ग्रहण कर रहे हैं।

यह समाचार सुनकर राजा को अत्यन्त आनन्द हुआ और उन्होंने तुरन्त अपने शरीर के वस्त्राभूषण उतारे और वनमाली को दिये, तथा आसन से उठकर परोक्ष नमस्कार किया, और नगर में आनन्दभेरी (मुनादी) दिवाई कि सब नर-नारी श्री वीर भगवान के दर्शन को पधारें। इस प्रकार राजा स्वयं भी चतुरंग सेनासहित हर्ष का भरा चेलनादि रानियों सहित समवसरण में वन्दनार्थ गया। वहाँ जाकर प्रथम ही भगवान को अष्टांग नमस्कार करके स्तुति करने लगा।

वीतराग सर्वज्ञ प्रभु, निजानन्द गुणखान।
अनन्त चतुष्टयन के धनी, नमूँ वीर भगवान।।

जय जय जिनवर तारन तरन, जय जय जन्म जरा भय हरन।
जय जय उद्यत जोत जिनेश, जय जय मुक्तिवधु परमेश।।
जय जय छयालीस गुण मंड, जय अतिशय चौंतीस प्रचण्ड।
तीन लोक की शोभा ताहि, और कोई उपमा नहिं आहि।।

जय जय केवलज्ञान पयास, जय जय निर्नाशन भव त्रास।
जय सब दोष रहित जिनदेव, सुरनर असुर करैं तुम सेव।।
यह विधि जिनवर थुति करेय, बार तीन प्रदक्षिण देय।
विनवे श्रेणिक बारम्बार, भवदधि से प्रभु कीजे पार।।

तत्पश्चात् चतुर्विध संघ की यथायोग्य विनय कर मनुष्यों की सभा में जाकर बैठ गया और प्रभु की वाणी से दो प्रकार- सागार और अनगार धर्म का स्वरूप सुनकर पूछने लगा कि, 'हे प्रभु! सिद्धचक्र व्रत की विधि क्या है? और इसे स्वीकार कर किसने क्या फल पाया है, सो कृपा कर कहिए। जिसे सुनकर भव्यजीव धर्म में प्रवर्तें और दुख से छूटकर स्वाधीन सुख का अनुभव करें।' तब गौतमस्वामी (जो श्री वीर भगवान के उपदेश की सभा (समवसरण) में प्रथम गणधर-गणेश थे) बोले-'हे राजन्! तुमने यह प्रश्न बहुत ही ठीक किया। इसकी कथा इस प्रकार है, सो मन लगाकर सुनो।

●●●

अंगदेश चम्पापुरी का वर्णन

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में जो यह आर्यखण्ड है, इसके मध्य एक अंगदेश नाम का देश है और उसमें चम्पापुर नाम का एक नगर है। इसी नगर के समीपी उद्यान से श्री वासुपूज्यस्वामी, बारहवें तीर्थंकर निर्वाण पधारे हैं। यह नगरी अत्यन्त रमणीक है। चारों ओर वन-उपवनों से सुशोभित है। उन वनों में अनेक प्रकार के वृक्ष अपनी स्वाभाविक हरियाली लिये पवन के झकोरों से हिल रहे हैं। मन्द-सुगन्ध वायु बहा करती है। कहीं पर कल्लोलें करते हुये नदी-नाले बहते हैं, जिसमें अनेक जाति के जलचर जीव क्रीड़ा कर रहे हैं। कहीं वृक्षों पर पक्षी अपने-अपने घोंसलों में बैठ नाना प्रकार की किल्लोलें कर रहे हैं। वे कभी फड़कते, कभी लटककर चुह-चुहाते हैं। बन्दर आदि वनचर जीव एक वृक्ष से दूसरे और दूसरे से तीसरे पर प्रमुदित हुए कूद रहे हैं। घास चारों ओर लहरा रही है।

वन-वेलों का तो कहना ही क्या है? जिस प्रकार लज्जावती स्त्री के चहूँ ओर वस्त्र आच्छादित रहते हैं और उसका बदन (शरीर) रूप, रंग कोई नहीं देख सकता है, उसी प्रकार उन्होंने वृक्षों को चारों ओर से ढांक लिया है। कहीं हाथियों के समूह अपनी मस्त चाल से बिचर रहे हैं, तो कहीं मृग बेचारे सिंहादि शिकारी जानवरों के भय से यहाँ-वहाँ दौड़ते फिर रहे हैं, कहीं सिंह चिंघाड़ रहे हैं, कहीं पुष्पवाटिकाओं में नाना प्रकार के फूल जैसे चम्पा, चमेली, जुही, मचकुन्द, मोगरा, मालती, गुलाब आदि खिल रहे हैं, जिन पर सुगन्ध के लोभी भौंरा गुंजार कर रहे

हैं, कहीं पर बगीचे में नाना प्रकार के फल जैसे आम, जाम, सीताफल, रामफल, श्रीफल, केला, दाडिम, जामुन आदि लग रहे हैं। जलकुण्डों में मछलियाँ किल्लोलें कर रही हैं, सरोवरों में अनेक भाँति के कमल फूल रहे हैं तथा सारस व हंस आदि पक्षी क्रीड़ा करते हैं, कहीं हंसों की चाल देख बगुला भी उन्हीं से मिलना चाहता है, परन्तु कपट भेष होने के कारण छिप नहीं सकता है। इत्यादि अवर्णनीय शोभा है।

उस नगर में बड़े-बड़े उत्तंग गगनचुम्बी महल बने हैं और प्रत्येक महल जिन चैत्यालयों से शोभायमान हैं। चौपड़ के समान बाजार बने हुए हैं जिनमें हीरा, रत्न, माणिक, पन्ना, नीलम, पुखराज आदि अनेक उत्तमोत्तम पदार्थों का वाणिज्य होता है। कहीं कपड़े की गांठें दृष्टिपात हो रही हैं, कहीं बिसांतखाना चल रहा है, कहीं फल-फूल, मेवों का और कहीं अनाज का ढ़ेर है। इस प्रकार बाजार भर रहे हैं। इस नगर में बड़े-बड़े विद्वान्, पण्डित, कवि आदि का निवास है। कहीं (जिनवाणीरूप) वेदध्वनि होती है, कहीं शास्त्र संवाद चल रहा है, कहीं पुराणी पुराण का कथन करते हैं, कहीं विद्यार्थी पाठशाला में अध्ययन करते हैं, मानों यह विद्यापुरी ही है।

जहाँ ईतिभीति देखने में ही नहीं आती है। चारों वर्ण के मनुष्य जहाँ अपने-अपने कुलाचार का पालन करते हैं। सभी लोग प्राय: सुखी दृष्टिगत होते हैं, भिक्षुक सिवाय परम दिगम्बर मुद्रायुक्त अयाचक वृत्ति के धारी मुनियों के अतिरिक्त कोई भी दृष्टिगोचर नहीं होते। जहाँ सदैव परम दिगम्बर मुनियों का विहार

होता रहता है और श्रावकगण मुनियों के आने की प्रतीक्षा करते रहते हैं, जो अपने निमित्त तैयार की हुई रसोई में से नहीं नवधा भक्तिपूर्वक आहारदान देकर पश्चात् आप भोजन करते हैं। वे सब द्विजवर्ण के श्रावक दातार के सप्त गुणों के धारक और श्रावक की क्रियाओं में अति निपुण हैं। इस प्रकार यह चम्पापुरी की ऐसी शोभा है मानों स्वर्गपुरी ही उतर आई है।

●●●

श्रीपाल के गर्भ का वर्णन

इसी चम्पापुर नगर में महाराजा अरिदमन राज्य करते थे, इनके भाई का नाम वीरदमन था। इनका राज्य नीतिपूर्वक चारों ओर ब्याप रहा था। कहीं भी किसी तरह का कोई कंटक दिखाई नहीं देता था। हाथी, घोड़ा, रथ पालकी, प्यादे आदि सेना बहुतायत से थी। बड़े-बड़े शूरवीर दरबार में सदा उपस्थित रहते थे। दूर-दूर तक सब ओर इनकी राज्यनीति की प्रशंसा सुनाई देती थी। इनकी रानी कुन्दप्रभा कुन्द के पुष्प के समान अत्यन्त रूपवती और गुणवती थी, शीलधर्म में सीता से कम न थी। जिस प्रकार काम को रति, शशि को रोहिणी, विष्णु को लक्ष्मी और राम को सीता प्यारी थी, उसी प्रकार यह रानी भी अपने पति की प्रिया थी। पति के सुख को सुख और उसके दु:ख को दु:ख समझती थी।

ऐसी पतिभक्ता स्त्रियों की ही संसार में महिमा है; क्योंकि जो ऐसी कोई-कोई सच्चरित्रा स्त्री न होती, तो यथार्थ में स्त्री जाति आदर योग्य भी नहीं रहती।

एक दिन यह रानी जब सुख शय्या पर सोई थी, तब उसने रात्रि के पिछले पहर में एक स्वप्न देखा। जिसमें सुवर्ण सरीखा बहुत बड़ा पर्वत और कल्पवृक्ष देखे, और इसी समय स्वर्ग से एक देव चलकर रानी के गर्भ में आया।

इतने में प्रात:काल हुआ और दिन भर के प्रताप से अन्धकार का इस प्रकार नाश हो गया, जैसे सम्यक्त्व के प्रभाव से मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। तब वह कोमलांगी सुशीला रानी शय्या से उठी और अपने शरीरादि की नित्य क्रिया से निवृत्त होकर मंद गति से गमन करती हुई स्वपति के समीप गई, और विनयपूर्वक नमस्कार कर मधुर शब्दों में रात्रि को देखे हुए स्वप्न का सब समाचार सुनाने लगी।

राजा ने भी रानी को उचित सम्मानपूर्वक अपने निकट सिंहासन पर स्थान दिया, और स्वप्न का वृत्तान्त सुनकर कहा- 'हे प्राणवल्लभे! तेरे इस स्वप्न का फल अति उत्तम है अर्थात् आज तेरे गर्भ में महातेजस्वी, धीर, वीर, सकल गुण निधान, चरमशरीरी नररत्न आया है। पर्वत देखा, इसका फल यह है कि तेरा पुत्र बड़ा गम्भीर, साहसी, पराक्रमी और बलवान होगा, तथा उसका सुवर्ण सरीखा वर्ण होगा और कल्पवृक्ष देखा है, इससे वह बहुत ही उदारचित्त, दानी, दीन जन प्रतिपालक और धर्मज्ञ होगा।

तात्पर्य कि तेरे गर्भ से सर्वगुण-सम्पन्न मोक्षगामी पुत्ररत्न होगा। इस प्रकार दम्पति (राजा-रानी) स्वप्न का फल जानकर बहुत ही प्रफुल्लित हुए, और सुखपूर्वक कालक्षेप करने लगे।

श्रीपाल के जन्म का वर्णन

दोज के चन्द्र के समान गर्भ दिनों-दिन बढ़ने लगा, और बाह्य चिह्न भी प्रगट होने लगे, जिससे शरीर कुछ पीला-सा दिखने लगा, कुच उन्नतरूप और दुग्धपूरित हो गये, नेत्र हरे-हरे हो गये, और दिनों-दिन रानी को शुभकामनायें दोहला (इच्छा) उत्पन्न होने लगीं। इस प्रकार आनन्दपूर्वक नव मास पूर्ण होने पर जिस प्रकार पूर्व दिशा से सूर्य का उदय होता है, उसी प्रकार रानी कुन्दप्रभा के गर्भ से शुभ लग्न में पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। जन्मते ही दुर्जन पुरुषों व शत्रुओं के घर उत्पाद होने लगे, और स्वजन, सज्जन, पुरजनों के आनन्द की सीमा न रही। नगर में घर-घर आनन्द बधाइयाँ होने लगीं, स्त्रियाँ मंगल गान करने लगीं, याचकों (भिखारियों) को इतना दान दिया गया कि जिससे वे सदैव के लिये अयाचक हो गये। किसी को हाथी, किसी को घोड़े, किसी को ग्राम, क्षेत्र आदि जागीरें भी पारितोषिक में दी गयीं। नगर में जहाँ-तहाँ बादित्रों की ध्वनि सुनाई देती थी। तात्पर्य कि राजा ने पुत्र जन्म का बड़ा हर्ष मनाया और यह सोचकर कि ये सब धर्म ही का फल है, श्री जिनेन्द्रदेव की विधिपूर्वक पूजा-भक्ति भी की।

इस प्रकार जब बालक डेढ़ मास का हुआ; तब राजा-रानी बड़े उत्साह से समारोहपूर्वक बालक को लेकर श्री जिन मन्दिर को गये, और प्रथम ही भगवान की अष्ट-द्रव्य से पूजा कर, पीछे वहाँ तिष्ठे हुए श्री गुरु के चरणारबिन्दों में बालक को रखकर, विनयपूर्वक नमस्कार किया; तब मुनिराज ने जिनको

कि शत्रु-मित्र समान हैं; उनको धर्मवृद्धि देकर धर्मोपदेश दिया, सो दम्पति ने ध्यानपूर्वक सुना, और अपना धन्य भाग्य समझकर मुनि को नमस्कार करके घर को लौट आये। और निमित्तज्ञानी को बुलाकर बालक के ग्रह लक्षण और नाम आदि पूछा। तब निमित्तज्ञानी ने जन्म लग्न पर से विचार कर कहा कि - 'हे राजन्! आपका पुत्र बहुत ही गुणवान, पराक्रमी, कर्मशत्रुओं को जीतनेवाला, प्रबल, प्रतापी, शूरवीर, रणधीर और अनेक विद्याओं का स्वामी होगा। इसके जन्म लग्न में ग्रह बहुत अच्छे पड़े हैं। मैं इस बालक के गुणों को वचन द्वारा नहीं कह सकता, इसका नाम **श्रीपाल** रखना चाहिए।

जब राजा ने इस प्रकार होनहार बालक के शुभ लक्षण सुने तब आनन्द और भी अधिक बढ़ गया। उन्होंने निमित्तज्ञानी को अतुल सम्पत्ति देकर विदा किया और बड़े प्यार से पुत्र का लालन-पालन करने लगे। अब दिनों-दिन श्री श्रीपालकुमार द्वितीया के चन्द्रमा के समान वृद्धि को प्राप्त करने लगे। इनकी बालक्रीड़ा मनुष्यों के मन को हरनेवाली थी। कभी वे ओंधे होकर पेट के बल से रेंगते, कभी घुटनों के बल से चलते, कभी कुदक-कुदककर पैर उठाते, कभी संकेत करते, और कभी अपनी तोतली बोली बोलते थे। कभी माता से रूठकर दूर हो जाते थे और कभी दौड़कर लिपट जाते थे। वे संग के बालकों में से ऐसे मालूम होते जैसे तारागणों में चन्द्रमा शोभा देता है। इस प्रकार की क्रीड़ा को देखकर माता-पिता का मन प्रफुल्लित होता था।

'बालक की सुन तोतरी बाता,
होत मुदित मन पितु अरु माता।'

इस तरह जब श्रीपालजी आठ वर्ष के हुए, तब इनका उपनयन संस्कार किया गया, अर्थात् पंचाणुव्रत दिये गये, श्रावक के अष्ट मूलगुण धारण कराये, सप्त व्यसन का त्याग कराया और यावत् विद्याध्ययनकाल पूर्ण न हो, वहाँ तक के लिये अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत दिया गया।

इस प्रकार यथोक्त मन्त्रों द्वारा विधिपूर्वक पूजन हवनादि करके इनको गृहस्थाचार्य के पास पढ़ने के लिये भेज दिया। सो गुरु ने प्रथम ही ॐकार से पाठ आरम्भ कराकर थोड़े ही दिनों में श्रीपालकुमार को तर्क, छन्द, व्याकरण, गणित, सामुद्रिक, रसायन, गायन, ज्योतिष, धनुष-बाण (शस्त्र विद्या), पानी में तैरना, वैद्यक, कोकशास्त्र, वाहन, नृत्य आदि विद्या और सम्पूर्ण कलाओं में निपुण कर दिया। तथा आगम और अध्यात्म विद्यायें भी पढ़ाईं।

इस प्रकार श्रीपालजी समस्त विद्याओं में निपुण होकर गुरु की आज्ञा ले अपने माता-पिता के समीप आये और उनको विनयपूर्वक नमस्कार किया। माता-पिता ने भी पुत्र को विद्यालंकृत जानकर शुभाशीर्वाद दिया। अब श्रीपालकुमार नित्यप्रति राज्य सभा में जाने और राज्य के कामों पर विचार करने लगे।

●●●

श्रीपाल का राजतिलक और राजा अरिदमन का कालवश होना

एक समय राजा अरिदमन सभा में बैठे थे कि इतने में श्रीपालकुमार भी सभा में आये और योग्य विनय कर यथास्थान बैठ गये। उस समय राजा ने अपनी वृद्धावस्था और श्रीपालकुमार की सुयोग्यता देखकर तथा इनके अतुल पराक्रम, न्यायशीलता और शूरवीरतादि गुणों से प्रसन्न होकर इनको राजतिलक देने का निश्चय कर लिया और शुभ मुहूर्त में सब राजभार इनको सौंपकर आप एकान्तवास करने तथा धर्मध्यान में कालक्षेप करने लगे।

थोड़े ही समय बाद वृद्ध राजा अरिदमन कालवश हुए जिससे राजा श्रीपाल, इनके काका वीरदमन, तथा माता कुन्दप्रभादि समस्त स्वजन तथा पुरजन शोकसागर में डूब गये। चारों ओर हाहाकार मच गया, तब बुद्धिमान राजा श्रीपाल ने पुरजनों को अत्यन्त शोकित देख धैर्य (साहस) धारण कर सबको संसार की दशा और जीव-कर्म का सम्बन्ध इत्यादि समझाकर संतोषित किया।

उन्होंने कहा कि मृत्यु तो मेरे पिता की हुई है, तुम्हारे पिता तो हम उपस्थित ही हैं, अतएव पिता के राज्य में जिस प्रकार आप लोग सुख शांति से रहते थे, वैसे ही रहेंगे, मैं शक्तिभर आपको सुखी करने का प्रयत्न करूँगा और आप भी न्यायपूर्वक मेरी सहायता करेंगे इत्यादि। इसके अनन्तर वे राज्यकार्य में दत्तचित्त हुए। चारों दिशाओं में अपने बुद्धिबल तथा पराक्रम से

अपने न्यायी तथा प्रजावत्सलपने की कीर्ति विस्तृत कर दी। बड़े-बड़े राजाओं को अपना आज्ञाकारी बनाया, दुर्जनों को जीतकर वश में किया, प्रजा को चौरादि दुष्टजनों कृत उपद्रवों से सुरक्षित किया। इनके राज्य में लुच्चे, चोर, लबार, चुगलखोर, व्यभिचारी, हिंसक आदि जीव क्वचित् भी दृष्टिगोचर नहीं होते थे। सब लोग अपने-अपने धर्म कर्मों में आरूढ़ रहते थे। राजाज्ञा पालन करना उनका मुख्य कर्तव्य था। इस तरह न्याय नीतिपूर्वक इनका राज्य बहुत काल तक निष्कंटक चला।

●●●

श्रीपाल को कुष्ट व्याधि का होना

जिस समय श्रीपालजी सुखपूर्वक कालक्षेप कर रहे थे और प्रजा का न्याय तथा नीतिपूर्वक पालन करते थे, उस समय उनका यह ऐश्वर्य दुष्ट कर्म से सहन नहीं हुआ अर्थात् कामदेव तुल्य राजा श्रीपाल के शरीर में कुष्ट (कोड़) रोग हो गया, सब शरीर गलने लगा और उसमें से पीप लोहू आदि बहने लगे जिससे समस्त शरीर में पीड़ा होने लगी और दुर्गन्ध निकलने लगी।

यह दशा केवल राजा की ही नहीं किन्तु राजा के समीपी सात-सौ वीरों की भी हुई। दीवान, सेनापति, मन्त्री, पुरोहित, कोतवाल, फौजदार, न्यायाधीश और अंगरक्षक सबकी एक-सी दशा थी। प्रजागण इनकी यह दशा देख अत्यन्त दुःखी थे, और अपने राजा की भलाई के लिए सदैव श्रीजी से प्रार्थना करते थे कि किसी प्रकार राजा व समीपी सुभटों को आराम मिले

परन्तु कर्म बलवान है, उस पर किसी का वश नहीं चलता।

एक कवि ने ठीक ही कहा है :-

कर्म बली अति जगत में, सब ही जीव वश कीन।
महाबली पुनि वे पुरुष, करे कर्म जिन छीन।।

तात्पर्य-इन सबका रोग दिनों-दिन बढ़ने लगा और शरीर से बहुत दुर्गन्ध निकलने लगी। जिस ओर की पवन होती थी, उसी ओर के लोग इनके शरीर की दुर्गन्ध से व्याकुल हो जाते थे। प्रजा में एक तो राजा के दु:ख से यों ही दु:ख छा रहा था, दूसरे दुर्गन्धि से और भी बुरी दशा थी परन्तु प्रजा के लोग राजा से वह बात कहने में संकोच करते थे, इसलिए कितने तो घर छोड़कर बाहर निकल गये और कितने ही जाने की तैयारी करने लगे अर्थात् पूरा नगर धीरे-धीरे उजाड़-सा प्रतीत होने लगा, तब नगर के बड़े-बड़े समझदार लोग मिलकर राजा श्रीपालजी के काका वीरदमन के पास गये व अपनी सब दु:ख कहानी कह सुनाई।

वीरदमन ने सबको धीरज देकर कहा-आप लोग किसी प्रकार व्याकुल न हों। राजा श्रीपाल बड़े न्यायी और प्रजावत्सल हैं। वे आजकल पीड़ा के कारण बाहर नहीं निकलते, इसीलिए उनके कानों तक प्रजा की दु:ख वार्ता नहीं पहुँची है, इसी से अब तक आप लोगों को कष्ट पहुँचा है। अब शीघ्र ही यह खबर उनको पहुँचाई जायेगी और आशा है कि वे तुरन्त ही किसी भी प्रकार से प्रजा के इस दु:ख का प्रतीकार करेंगे। इस प्रकार संतोषित कर वीरदमन ने सबको विदा किया। ●●●

श्रीपाल का वीरदमन को राज्य देकर वनवास को जाना

काका वीरदमन मन में विचारने लगे कि अब क्या करना चाहिए? यदि राजा नगर में रहते हैं तो प्रजा भागी जाती है, और यदि प्रजा को रखते हैं तो राजा को बाहर जाना पड़ेगा। यह तो गुड़-लपेटी छुरी गले में अटकी है, जिसे बाहर निकालें तो जीभ कटे और अन्दर निगलें तो पेट फटे। इस प्रकार दु:खित हो रहे थे। और सोचते थे:-

पंख बिना पक्षी जिसो,पानी बिन तालाब।
पात बिना तरुवर जिसो, रैयत विन त्यों राव।।
नभ उड़गन ज्यों चन्द बिन, ज्यों विन वृक्ष उद्यान।
जैसे घन बिन मेह त्यों, प्रजा बिना राजान।।
जैसे ब्राह्मण वेद बिन, वैश्य वित्त बिन जान।
शस्त्र बिना क्षत्री जिसो, बिना प्रजा राजान।।

तात्पर्य - बिना प्रजा के राजा शोभा नहीं देता। इत्यादि सोचकर वीरदमन श्रीपाल राजा के पास गये और अति ही प्रीति भरे नम्र वचनों से प्रजा की सब दु:ख कहानी कह सुनाई। तब राजा प्रजा के दु:ख को सुनकर और भी व्याकुल हुए और आतुरता से पूछने लगे:-

'काकाजी! प्रजा को इस कष्ट से बचाने का कुछ यत्न है; तो नि:शंक होकर कहो। क्योंकि जिस राजा की प्यारी प्रजा दु:खी रहे, वह राजा अवश्य ही कुगति का पात्र है। काकाजी!

मैं अपने कारण प्रजा को दु:खी रखना नहीं चाहता। मुझे इस बात की विशेष चिन्ता है, क्योंकि मेरे शरीर से बहुत ही दुर्गन्ध निकलती है, जिसको वास्तव में प्रजा नहीं सह सकती, और मुझसे कह भी नहीं सकती, इसलिए शीघ्र ही ऐसा उपाय बताइये, ताकि प्रजा सुखी होवे।'

यह सुनकर काका वीरदमन बोले – 'हे राजन्! मुझे कहने में यद्यपि संकोच होता है; तथापि प्रजा की पुकार और आपके आग्रह से एक उपाय जो मुझे सूझा है, सो निवेदन करता हूँ, आशा है उस पर पूर्ण विचार कर कार्य करेंगे। श्रीमान के शरीर में जब तक यह व्याधि वेदना है, तब तक नगर के बाह्य उद्यान में निवास करें और राजभार किसी योग्य पुरुष के स्वाधीन कर देवें।

वीरदमन की बात सुनकर श्रीपालजी ने निष्कपटभाव से कह दिया कि मुझे यह विचार सब प्रकार से स्वीकार है और मैंने भी यही विचार किया है। इसलिए मैं राज्य का भार इतने कालतक आपको ही देता हूँ क्योंकि इस समय कार्य के योग्य आप ही हैं, अर्थात् जब तक मेरे इस असातावेदनीय का उदय है, तब तक मैं अपना राज्य आपके द्वारा ही करूँगा और इसका क्षय अर्थात् साता का उदय होते ही मैं पुन: आकर राज्य संभाल लूंगा, वहाँ तक आप ही अधिकारी हैं।

इसलिए आप भले प्रकार प्रजा का पालन-पोषण कीजिए, उन्हें किसी प्रकार का कोई कष्ट न होने पावे। न्याय और नीतिपूर्वक बर्ताव कीजिये और मेरी माता कुन्दप्रभा की रक्षा भी

पूर्णरूप से कीजियेगा, जिससे उनको मेरा वियोग जिनत दु:ख न व्यापने पावे। इत्यादि नाना प्रकार के आदेश (शिक्षा) देकर राजा श्रीपाल ने समस्त (सात-सौ) कोढ़ी वीरों को साथ लिया और नगर से बहुत दूर उद्यान में जाकर डेरा किया।

जब श्रीपाल के वन जाने की खबर प्रजा के लोगों को मालूम हुई तो घर-घर शोक छा गया, बस्ती श्रीरहित शून्य-सी दीखने लगी, सब लोग इस वियोग जनित दु:ख से व्याकुल हो रुदन करने लगे, अस्थायी राजा वीरदमन के भी टपटप आंसू गिरने लगे। माता कुन्दप्रभा तो बावली-सी हो गयी। उनको अपने पति अरिदमन की मृत्यु का शोक तो भूला ही न था कि पुन: पुत्र के वियोग का दु:ख आ पड़ा। वे गद्‌गद् स्वर से विलाप करने लगीं। विशेष कहाँ तक कहें, शोक के कारण दिन भी रात्रिवत् मालूम होने लगा। यद्यपि वीरदमन राजा ने सबको धैर्य दिया, तथापि राजभक्त प्रजा को संतोष कहाँ? हाय! कर्म से कुछ वश नहीं है। देखो! कैसी विचित्रता है कि:

पुण्य उदै अरि मित्र ह्वै, विष अमृत ह्वै जाय।
इष्ट अनिष्ट ह्वै परनमें, उदे पाप जब थाय।।

निदान सब लोग कुछ काल बाद शोक छोड़ निज-निज कार्य में दत्तचित्त हुए। काका वीरदमन राज्य करने लगे और राजा श्रीपाल उद्यान में जाकर सात-सौ वीरों सहित कर्म का फल भोगने लगे।

●●●

मैनासुन्दरी का वर्णन

इसी आर्यखण्ड के मालवदेश (मालवा) में उज्जैनी नाम की एक नगरी है। वहाँ का राजा **पहुपाल** बहुत ही प्रतापी, शूरवीर, रणधीर, महा पराक्रमी और बलवान था। वह नीतिपूर्वक प्रजा का पुत्रवत् पालन करता था। जिसके राज्य में कुबेर सदृश धनी लोग रहते थे। विद्या का अपूर्व कोष दिखाई देता था। बड़े-बड़े उत्तंग महल ध्वजा तोरण कंगूरों आदि से सुसज्जित बने थे। नगर का विस्तार १२ कोस लम्बा और ९ कोस चौड़ा था। बहुत दूर-दूर तक राजा की आज्ञा मानी जाती थी। वहाँ कोई दु:खी, दरिद्री नहीं देख पड़ते थे। बाग-बगीचे, कोट खाई, सरोवर आदि से नगर की शोभा अवर्णनीय हो रही थी। राजा के यहाँ **निपुणसुन्दरी** पट्टरानी आदि बहुत-सी रानियाँ थी। पट्टरानी निपुण-सुन्दरी के गर्भ से दो कन्याएं हुईं।

एक का नाम **सुरसुन्दरी** और दूसरी का नाम **मैनासुन्दरी** था। प्रथम कन्या सुरसुन्दरी केवल सांसारिक विषय-भोगों की आकांक्षा करनेवाली और कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को सेवन करनेवाली विवेकहीन किन्तु रूपवती थी और द्वितीय कन्या मैनासुन्दरी जैसी रूपवती थी, वैसी ही गुणवती और परम विवेकी जैनधर्म में अत्यन्त लवलीन थी। इसका चित्त सरल और दयालु था। वचन मधुर, नम्र और सत्यरूप निकलते थे, इसी से यह सबको प्रिय थी।

एक दिन राजा ने रानी से सम्मति मिलाकर दोनों पुत्रियों को पढ़ाने का विचार किया, सो प्रथम ही सुरसुन्दरी को बुलाकर

पूछा-हे बाले! तुम कौन से गुरु के पास पढ़ना चाहती हो? तब सुरसुन्दरी ने कहा कि शैवगुरु के पास पढूंगी। यह सुनकर राजा ने तुरन्त ही शैवगुरु बुलाकर उसे सब प्रकार संतोषित कर कन्या सौंप दी। तब वह ब्राह्मण राजा को शुभाशीर्वाद देकर सुरसुन्दरी को अनेक प्रकार कला, चतुराई और विद्याएं सिखाने लगा।

फिर राजा ने द्वितीय कन्या को बुलाकर पूछा - हे बाले! तुम किस गुरु के पास पढ़ना चाहती हो? तब मैनासुन्दरी ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया-हे तात! मैं जिन चैत्यालय में श्री जिनमती आर्यिका के पास पढ़ना चाहती हूँ। यह सुनकर राजा-रानी अति प्रसन्न हुए, और कन्या को लेकर स्वयं अष्ट प्रकार द्रव्य संजोकर जिन चैत्यालय पधारे। वहाँ जाकर प्रथम ही श्रीजिनेन्द्र की भक्तिभाव से पूजा करके फिर वहाँ पधारे हुए श्रीगुरु को नमस्कार किया। गुरुजी ने धर्मवृद्धि दी। तब राजा और रानी ने विनती की-हे स्वामिन्! इस बालिका की इच्छा विद्याभ्यास करने की है, इसलिए कृपा कर इसे विद्यादान दीजिये। मैनासुन्दरी ने भी कर जोड़ प्रार्थना की-हे कृपासिंधु! धर्मावतार! मुझे विद्यादान दीजिये! तब श्रीमुनि बोले कि इस बालिका को आर्यिका के पास पढ़ने को बिठाओ। तब राजा ने गुरु की आज्ञानुसार पुत्री को आर्यिकाजी की शरण में छोड़ दिया और रानी सहित स्वगृह को प्रयाण किया। आर्यिकाजी ने प्रथम ही उसे ॐकार जो समस्त द्वादशांग का सार है, पढ़ाया-

मंगलमय मंगल करन, उत्तम शरणाधार।
ॐकार संसार में, पार उतारन हार।।

ज्ञायक लोकालोक का, द्वादशांग का सार।
गर्भित पंचपरमेष्ठि अरु, कर्म भर्म क्षयकार।।

इस प्रकार ॐकार से आरम्भ करके श्री परम तपस्विनी आर्यिकाजी ने थोड़े ही दिनों में इस कुमारिका को शास्त्र, पुराण, संगीत, ज्योतिष, वैद्यक, तर्कशास्त्र, सामुद्रिक, छंद, आगम, आध्यात्मिक, नृत्य, नाटक इत्यादि सर्व विद्या और मुख्य-मुख्य भाषाओं का ज्ञान करा दिया। जब वह सम्पूर्ण कलाओं में निपुण हो गई, तब श्रीगुरु के निकट निश्चय और व्यवहार धर्म, दो प्रकार का चारित्र, चार ध्यान, षोडशकारण, दशलक्षण, नन्दीश्वर और रत्नत्रयादिक व्रतों का स्वरूप समझा।

इस प्रकार मैनासुन्दरी जब सब विद्या पढ़ चुकी, तब अपने माता-पितादि गुरुजनों की यथायोग्य विनय करती हुई कुलीन कन्याओं की भाँति सुख से कालक्षेप करने लगी और ज्येष्ठ पुत्री सुरसुन्दरी (जो शिवगुरु के पास पढ़ने को गई थी) भी वेद, पुराण, ज्योतिष, वैद्यक आदि सम्पूर्ण विद्या पढ़ चुकी। तब वह ब्राह्मण पण्डित उसे लेकर राजा के समीप उपस्थित हुआ और आशीर्वाद देकर कन्या राजा को सौंप दी। इस पर राजा ने उसे उचित पुरुस्कार (इनाम) देकर संतोषित किया।

एक दिना राजा सुखासन से मन्त्री आदि सहित बैठे हुए थे कि इतने में बड़ी पुत्री आई। राजा उसे तरुणावस्था प्राप्त देखकर पूछने लगे - हे पुत्री! तेरा लग्न (विवाह) कहाँ और किसके साथ होना चाहिए? तुझे कौन वर पसन्द है? तब सुरसुन्दरी बोली-पिताजी! पुण्य के योग से ही विद्या, धन, ऐश्वर्य, रूप,

यौवनादि सब मिलता है, सो तो सब आपके प्रभाव से प्राप्त है ही, और लग्नादि कार्य गृहस्थों के मंगल कार्य हैं, इन्हीं से सुख की प्राप्ति होती है, यह भी ठीक है। अच्छा तो यही है कि कन्याओं के योग्य वर पिताजी, गुरुजनों के द्वारा तलाश किया जाए, परन्तु यदि श्रीमान् मुझसे ही पूछना चाहते हैं तो मुझे कौशाम्बी नगरी के राजा का पुत्र **हरिवाहन** जो सर्व गुण सम्पन्न, रूपवान तथा बलवान हैं; पसन्द है, उसी के साथ मेरा लग्न होना चाहिए। तब राजा ने यह बात स्वीकार की और बड़े आनन्द व उत्साह से सुरसुन्दरी का लग्न (विवाह) शुभ मुहूर्त में उसके इच्छित वर के साथ कर दिया।

इसी प्रकार किसी एक दिन छोटी पुत्री मैनासुन्दरी जब चैत्यालय से आदीश्वरस्वामी की पूजा कर गन्धोदक लिये हुये पिता के पास आई तो राजा ने उसे प्रेम से, आओ बेटी! आओ! कहकर बैठने का संकेत किया। पुत्री ने विनय सहित भेंट स्वरूप राजा के सन्मुख गन्धोदक रख दिया और स्वयोग्य स्थान पर बैठ गयी।

राजा ने पूछा–यह क्या लाई हो बेटी! पुत्री ने उत्तर दिया–पिताजी! यह गन्धोदक (जिन भगवान के न्हवन का जल) है। इसको शरीर पर लगाने से अनेकों व्याधियाँ जैसे कोढ़ (कुष्ट), दाद, गजकर्ण, खाज (खुजली) आदि रोग दूर हो जाते हैं। कैसा ही दुर्गन्धित शरीर हो परन्तु थोड़े ही समय में इस गन्धोदक से अति सुगन्धित स्वर्ण सरीखा निर्मल हो जाता है। इस गन्धोदक को सुर, नर, विद्याधर, मस्तक पर चढ़ाते हैं और अपने आपको

इसकी प्राप्ति होने पर कृतकृत्य समझते हैं।

जब तीर्थंकरदेव का जन्म होता है, तब इन्द्र प्रभु को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर एक हजार आठ कलशों से अभिषेक करता है। इस अभिषेक का जल इतना होता है कि उस जल के प्रवाह से नदी बह जाती है। परन्तु वहाँ पर परमभक्त सुरनर, विद्याधरों के द्वारा मस्तक में लगाते हुये वह जल बिलकुल शेष नहीं रहता है। कहाँ तक कहें? इसकी महिमा अपार है। इससे सब इच्छित फल की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए आप भी इसे वन्दन कीजिए अर्थात् मस्तक पर लगाइये।

यह सुनकर राजा ने सहर्ष गन्धोदक मस्तक पर चढ़ाया और पुत्री को भक्तियुक्त देखकर प्रसन्न हो प्रेमपूर्वक मस्तक चूम मधुर वचनों से उसकी परीक्षा करने लगा-पुत्री! पुण्य क्या वस्तु है? और वह कैसे प्राप्त होता है?

मैनासुन्दरी कहने लगी-हे तात! सुनो-

वीतराग सर्वज्ञ अरु, हित उपदेशी देव।
धर्म दयामय जानिये, गुरु निर्ग्रंथ की सेव।।
पुण्य उदधि यह जानिये, अहो तात गुणलीन।
स्वर्ग मोक्ष दातार ये, प्रगट रत्न हैं तीन।।

अर्थात्-अर्हंतदेव, दयामयी धर्म और निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा से ही पुण्यबंध होता है। और तो क्या, इनकी सेवा अनुक्रम से मोक्ष की देनेवाली होती है। राजा पुत्री के द्वारा अपने प्रश्न का उत्तर पाकर और भी प्रसन्न हुए और बिना विचारे पुत्री से कहने

लगे-पुत्री! तू अपने मन के अनुसार जो रूपवान व पराक्रमी वर तुझे पसन्द हो, सो मुझसे कह! मैं सुरसन्दरी के समान तेरा विवाह तेरी पसन्दगी से कर दूँगा।

पिता का यह वचन मैनासुन्दरी के हृदय में वज्रवत् प्रतीत हुआ। वह चुप ही रही, कुछ भी उत्तर मुँह से नहीं निकला। मन ही मन सोचने लगी कि पिता ने ऐसे वचन क्यों कहे? क्या कुलीन कन्यायें भी अपने मुँह से वर माँगती हैं? नहीं-नहीं, शीलवान कन्यायें कभी नहीं कह सकती हैं।

यथार्थ में जिसने जिनेन्द्रदेव को पहिचाना नहीं और निर्ग्रन्थ गुरु, दयामयी धर्म नहीं जाना है, उनकी यही दशा होती है। बिना दशलक्षण व रत्नत्रय धर्म के जाने यथार्थ में विवेक नहीं हो सकता। इत्यादि विचारों में निमग्न हुई पुत्री, पृथ्वी की ओर एकटक देखती रही, तो भी राजा ने इसका भाव न समझा और फिर से कहा-पुत्री! यह लज्जा योग्य बात नहीं है। तूने जो कुछ विचार किया हो अर्थात् जो वर तुझे पसन्द हो, सो कह।

इस प्रकार बारम्बार राजा के पूछने पर वह विचारती थी कि राजा की बुद्धि कहाँ चली गयी! जो निर्लज्ज हुए, इस प्रकार फिर-फिर से प्रश्न कर रहे हैं? यदि इन्होंने हमारे गुरु का वचन सुना होता तो कदापि ऐसा वचन मुँह से नहीं निकालते इत्यादि। परन्तु जब पिता का विशेष आग्रह देखा, तब वह लाचार होकर बोली-

हे पिता! कुलवन्ती कुमारियाँ अपने मुँह से वर नहीं माँगती। माता-पितादि स्वजन या गुरुजन जिसके साथ विवाह कर देते हैं, उनके लिये वही वर कामदेव के तुल्य होता है। चाहे वह

अन्धा, लूला, काना, बहरा, पांगुला, कोढ़ी, रोगी, राव, रंक, बाल, वृद्ध, रूपवान, कुरूप, मूर्ख, पण्डित, निर्दयी, निर्लज्ज हो अथवा सर्वगुण-सम्पन्न हो, परन्तु उन कुमारियों के लिये वही वर उपादेय (ग्रहणयोग्य) है। कन्याओं का भला-बुरा विचारना माता-पिता के आधीन है। वे जो चाहें सो करें।

मैंने श्रीगुरु के मुँह से ऐसा ही सुना है और शास्त्रों में भी वही कथा प्रसिद्ध है कि कच्छ सुकच्छ राजा की कन्यायें यशस्वी और सुनन्दा भी तब तरुण हुयीं, तो उनके पिता ने श्री आदीश्वर (ऋषभनाथ) स्वामी को परणाई थीं, और आदिनाथ की दो कन्यायें ब्राह्मी और सुन्दरी जब तरुण हुयीं और उनके लग्न का विचार नहीं किया गया तो वे कुमारिकायें समस्त इन्द्रिय विषयों को तुच्छ और दु:खरूप समझकर जिनदीक्षा लेकर इस पराधीन स्त्रीपर्याय से सदा के लिये छूट गयीं, अर्थात् वे स्त्रीलिंग छेदकर स्वर्ग में देव हुयीं।

इसलिए हे पिता! अपने मुँह से वर माँगना अनुचित व लोकविरुद्ध है। बहिन सुरसुन्दरी ने जो वर माँग लिया, सो यह उनकी चतुराई नहीं है, परन्तु वे बेचारी क्या करें? खोटे गुरु (कुगुरु) की शिक्षा का स्वभाव ही ऐसा है। संगति का प्रभाव अवश्य ही होता है। देखो कहा है -

तपे तवा पर आय स्वामि जल बूंद विनट्ठी।
कमल पत्र पर संग वही मोती सम दिट्ठी।।
सागर सीप समीप भई मुक्ताफल सोई।
संगति का प्रभाव प्रगट देखो सब कोई।।

नीच संग से नीच फल, मध्यम से मध्यम सही।
उत्तम से उत्तम मिले, ऐसे श्रीजिन गुरु कही।।

देखिये-यह जीव भी इस संसार में अनादि कर्मबन्धवशात् स्वरूप को भूला हुआ पर (पुद्गलादि पर्यायों) में आपा मान चतुर्गति में भटकता है और उन कर्मों के उदयजनित फल में राग-द्वेष बुद्धि कर सुख-दुखरूप इष्टानिष्ट कल्पना करता है। तथा उसमें तन्मयी होकर हर्ष-विषाद करता है परन्तु यह उसकी भूल है। क्योंकि जो कुछ **सर्वज्ञ ने देखा है, वह अवश्य होगा।** इसलिए समताभाव रखना ही कर्तव्य है। जबकि समीचीन पुरुष को ही कर्म ने नहीं छोड़ा तो हमारे जैसे शक्तिहीन मनुष्यों की क्या बात है?

इसलिए हे पिता! सुरसुन्दरी का वह दोष नहीं था। वह केवल कुगुरु की शिक्षा का ही फल था। माता-पिता का कर्तव्य है कि वे जब अपनी कन्याओं को विवाह योग्य देखें; तब उत्तम कुलवान, रूपवान, गुणवान, अपने बराबरीवाला सुयोग्य वर ढूंढ़कर उसके साथ विवाह दें। यथार्थ में वे ही कन्यायें प्रशंसनीय हैं जो गुरुजनों के द्वारा किया हुआ सम्बन्ध सहर्ष स्वीकार कर उसी में सन्तोष करती हैं। क्योंकि प्रथम तो गुरुजनों के द्वारा कभी अपनी कन्याओं के साथ अहित होने की आशा ही नहीं है और कदाचित् किसी अविचारी माता-पितादि द्वारा भाग्यवश ऐसा ही हो जाए अर्थात् योग्य वर न भी मिले तो वे उसे पूर्वोपार्जित कर्म का फल जानकर उसी प्राप्त वर की सेवा करें। इसी में उनका कल्याण है। संसार में इष्टानिष्ट वस्तुओं का

संयोग कर्म के अनुसार स्वयमेव ही आकर मिल जाता है, इसमें किसी का कुछ दोष नहीं होता, इसलिए पिताजी! आपको अधिकार है, आप चाहे जिसके साथ विवाह कर दो।

यह बात सुनकर राजा क्रोधित होकर बोले - बस-बस पुत्री! चुप रह। तेरा उपदेश बहुत हो गया। क्या तेरे गुरु ने तुझे यही पढ़ाया है कि अपने उपकारीजनों के उपकार का तिरस्कार करे? तू मेरे घर में तो नाना प्रकार के उत्तम भोजन करती है, वस्त्राभूषण पहिनती है, और सब प्रकार सुख भोग रही है, तो भी कहती है कि मुझे तो सब मेरे कर्म ही से मिलता है। यह तेरी कृतघ्नता है।

मैनासुन्दरी ने कहा - पिताजी! गुरु का वचन यथार्थ है। आप मन में विचारकर देखिये। मेरा शुभकर्म का ही उदय था कि आपके घर जन्म मिला और ये सब सुख भोगने में आये। यदि मेरे अशुभ कर्म का उदय होता तो किसी दरिद्री के घर जन्म लेती, जहाँ कि दु:ख ही दु:ख मिलता। सो वहाँ तो आप कुछ सुख देने आते नहीं। भला और भी संसार में अनेक प्राणी दु:खी देखे जाते हैं, उन्हें व नारकी आदि जीवों को व देवादिकों को कौन दु:ख व सुख जाकर देता है? **यथार्थ में जीव को उसी का किया हुआ शुभाशुभ कर्म, सुख व दु:ख का दाता है।**

राजा को पुत्री के ऐसे वचन सुनकर बहुत क्रोध उत्पन्न हुआ और उसी समय उसने मन में यह ठान ली कि अब उसके कर्म की परीक्षा करना चाहिए, जो इतना गर्वयुक्त हो रही है। कुछ देर

चुप रहा और ऊपरी मन से मैनासुन्दरी की प्रशंसा करता हुआ उठकर महलों में चला गया और मैनासुन्दरी भी हर्षित होकर अपने महल में चली गई।

नगर के लोग पुत्री को देखकर बहुत ही आनन्दित होते थे। कोई कहते थे यह देवी है, कोई कहते थे विद्याधरी है, कोई कहते थे रति है इत्यादि। सारांश यह है कि इसके रूप के समान और किसी स्त्री का रूप नहीं था। यह षोडशी (१६ वर्ष की) कन्या वस्त्राभूषणों से अलंकृत हुई सुखपूर्वक रहने लगी, और निरन्तर भोजन तैयार होने पर श्रीमुनि के आगमनकाल का विचार कर द्वारप्रेक्षण करती और मुनि आदि अतिथियों को भक्तिपूर्वक आहारादि दान देती परन्तु यदि समय निकल जाता और कोई मुनि (अतिथि) दृष्टि न पड़ते, तब आत्मनिन्दा करती हुई (कि हाय! आज मेरे कोई पूर्वोपार्जित अन्तराय कर्म के उदय से अतिथि का योग नहीं मिला इत्यादि) एक पुरुष के भोजन के योग्य रसोई निकालकर किसी दीन-दुःखी को देकर करुणादान की ही भावना भाती हुई भोजन को बैठती।

इसी प्रकार नित्य प्रति वह कुमारिका षट्कर्म, देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान में सावधान रहती हुई सानन्द कालक्षेप करने लगी।

●●●

मैनासुन्दरी का श्रीपाल से विवाह

एक दिन राजा पहुपाल (मैनासुन्दरी के पिता) को अकस्मात् मैनासुन्दरी के उन वचनों का स्मरण आ गया 'कि पुत्री कहती है कर्म ही प्रधान है' और इसलिए वह तुरन्त ही क्रोधयुक्त होकर मन्त्रियों के साथ पुत्री के लिए हीन वर की खोज में निकला।

चलते-चलते वह उसी चम्पापुर के वन में पहुँचा, जहाँ राजा श्रीपाल सात-सौ सखाओं सहित पूर्वोपार्जित कर्म का फल (कुष्ट व्याधि) भोग रहे थे।

श्रीपाल राजा पहुपाल को आते देखकर स्व-आसन से उठ खड़े हुए और यथायोग्य स्वागत करके कुशल समाचार पूछे तथा अपने पास तक आने का कारण भी पूछा। राजा पहुपाल के मन्त्रियों को यह देखकर विस्मय हो रहा था कि न मालूम राजा क्यों इस कोढ़ी से मिल रहे हैं; जिसके अंगोपांग सड़कर गिर रहे हैं, महा दुर्गन्ध निकल रही है इत्यादि। इतने में राजा पहुपाल ने श्रीपाल से कहा - मैं वन क्रीड़ा के लिए आया हूँ, आपका आगमन यहाँ किस प्रकार हुआ है? क्यों कर यह नगर बसाया है, यह जानना चाहता हूँ।

तब श्रीपाल ने आद्योपान्त कुल कथा कह सुनाई। यह सुनकर राजा प्रसन्न होकर बोला - मैं आपसे मिलकर बहुत प्रसन्न हूँ, आपको जो चाहिए सो मांगो।

श्रीपाल ने देखकर कहा - जो आप प्रसन्न हैं और वर देते हैं तो आपकी पुत्री मैनासुन्दरी मुझे दीजिए। राजा पहुपाल ने सुनकर

प्रथम तो कुछ मन में क्रोध किया, पश्चात् मैनासुन्दरी के वाक्यों को स्मरण कर हर्षित होकर बोले – तथास्तु अर्थात् हे कुष्टीराय! आपको मैंने अपनी लघुकन्या मैनासुन्दरी दी। चलो, शीघ्र ही मेरे साथ आवो और कन्या से विवाह कर सुखी हो। श्रीपाल हर्षित हो राजा के साथ चलने को तैयार हुए।

परन्तु ऐसे अवसर में मन्त्रियों से भला कब चुप रहा जाता है? तुरन्त ही गद्गद हो, दीन वचनों द्वारा से प्रार्थन करने लगे – हे नाथ! बड़ा अनर्थ हो जाएगा। आपको प्रथम ही गुप्त मंत्रणा कर ऐसा वचन देना चाहिए। कहाँ तो वह षोडश वर्ष की सुकुमारी कन्या और कहाँ यह कोढ़ी आंगोपांगगलित शरीरी पुरुष? ऐसा अनमेल सम्बन्ध उचित नहीं है। सब लोग हंसेंगे और निन्दा करेंगे।

हे राजा! कन्या अपने माता-पिता के आधीन होती है, इसलिए उन्हें चाहिए कि योग्यायोग्य का पूर्ण विचार करें। यदि बालकों से कुछ अपराध भी हो जावे तो भी माता-पिता उसे क्षमा ही करते हैं। अपने थोड़े से मानादि कषाय के वश हो अपने आधीन जीवों को कष्ट पहुँचाना कि जिससे वे सदा के लिये दु:खी हो जावें, कदापित उचित नहीं है।

नीति में भी कहा है कि – क्षत्रियों का कोप बालक, वृद्ध, स्त्री, निर्बल, पशु, आधीन, शरण में आये हुए और पीठ दिखानेवालों पर नहीं होता है। चाहे जो हो, परन्तु फिर भी वे दया के पात्र हैं इत्यादि नाना प्रकार से मन्त्रियों ने समझाया, परन्तु होनी अमिट है, राजा के मन में एक भी बात न जँची।

उसने उत्तर दिया – अरे मन्त्रियों! तुम लोग इस विषय में कुछ नहीं समझते। यथार्थ में ऐसा पुरुष तीन खण्ड में तलाश करने पर भी नहीं मिलेगा, सिवाय इसके यह उत्तम कुलीन क्षत्रिय भी है। सब कारोबार राजाओं सरीखे ही हैं। रोग तो शरीर का विकार है। माल, खजाना, सेना आदि की कुछ भी कमी नहीं है। यह पुरुष दयालु, न्याय नीति आदि गुणों से परिपूर्ण है। जैसे अन्धे के हाथ बटेर पक्षी का आना कठिन है, इसी तरह जो इसे छोड़ जाऊं तो फिर ऐसा वर मिलना कठिन है, इसलिए अवसर हाथ से नहीं जाने देना चाहिए।

मन्त्रियों ने पुन: विनय की – हे स्वामी! स्त्रियों को धन, वस्त्र, राज्य और ऐश्वर्य आदि का चाहे जितना सुख क्यों न हो, परन्तु यदि पति का सुख न हो तो वह सब कुछ उन्हें तृण के समान है। क्या आपने सीता, द्रौपदी आदि की कथा नहीं सुनी कि जिन्होंने सम्पूर्ण सुखों पर धूल डालकर केवल अपने पतियों के साथ में रहकर अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना ही श्रेयस्कर समझा था सो जब उन्हें (स्त्रियों को) यही सुख नहीं मिला तो और सुख सब ऐसे हैं – जैसे कठपुतली का शृंगारना। यद्यपि श्रीमान् का चित्त इस समय किसी कारण से ऐसा हो गया होगा, परन्तु पीछे बहुत पछतावेंगे। इसलिए सब काम सोच-समझकर ही करना चाहिए।

यह सुनकर राजा ने कहा – मन्त्रियों! तुम्हारा बारम्बार कहना उचित नहीं है। मैं कदापि तुम्हारी बात नहीं मानूँगा। क्योंकि मैनासुन्दरी के वचन मुझे तीर के समान चुभ रहे हैं, इसलिए

इससे बढ़कर उसके कर्म की परीक्षा करने का अवसर दूसरा न मिलेगा। बस जो होना था, सो हो गया। अब मेरे वचन को फिराने की किसकी सामर्थ्य है? ऐसा कहकर तुरन्त ही राजा पहुपाल ने राजा श्रीपाल कोढ़ी को साथ लेकर स्व स्थान की ओर विहार किया। कुछ समय बाद जब वे नगर के निकट पहुँचे तो श्रीपाल को उनके सात-सौ सखों समेत नगर के बाह्य उपवन में डेरा देकर, आप (राजा) प्रथम ही मैनासुन्दरी के निकट पहुँचा, और हर्षित होकर बोला -

पुत्री! अब भी तुम कर्म का हठ छोड़ो और विचार कर कहो कि कौन वर पसन्द है? तब पुत्री बोली - तात! जो मुनि क्रिया में सावधान होकर भी दर्शनभ्रष्ट हो, जो धर्मात्मा होकर दयारहित हो, जो विवेकहीन ध्यानी हो, जो क्रोधी होकर त्यागी रहे और जो पुत्र गुणवान होकर भी पिता के वचन को लोपनेवाले हों तो उनके सब गुण व्यर्थ हैं, ऐसा क्रिया, धर्म त्यागादि गुणों से कुछ लाभ नहीं है। इसलिए आप चाहे जिससे मेरा पाणिग्रहण करा दें, वही मुझे स्वीकार है।

राजा को पुत्री के इन नीतियुक्त वचनों से कुछ भी सन्तोष न हुआ। वह कहने लगे - पुत्री! मैंने तेरे लिए कोढ़ी वर तलाश किया है। तू उसे सहर्ष स्वीकार।

मैनासुन्दरी पिता के वचन सुनकर में बहुत ही हर्षित हो कहने लगी - हे तात! कर्म के अनुसार जो वर मुझे मिला, वही स्वीकार है। इस जन्म में तो मेरा स्वामी कोढ़ी है। उसके सिवाय संसार के और पुरुष आप के (पिता के) समान हैं। यद्यपि

मैनासुन्दरी ने ये वचन प्रसन्न मन से कहे थे, परन्तु राजा को नहीं रुचे।

वह बोला – पुत्री! तू बहुत ही हठीली है। तेरा स्वभाव दुष्ट है, विचारशून्य है, अब भी हठ छोड़ दे। परन्तु मैनासुन्दरी ने तो मन से श्रीपाल को ही स्वीकार लिया था। वह बोली – पिताजी! आप चिन्ता न करें, कर्म की गति विचित्र है। शुभ उदय से अनिष्ट वस्तु इष्टरूप और अशुभ उदय से इष्ट भी अनिष्टरूप परिणमती है, इसलिए अब जो कुछ होना था, सो हो गया, इसमें कुछ सोचने-विचारने की आवश्यकता नहीं है।

जब राजा ने देखा कि अब तो पुत्री भी हठ पकड़ गयी है, तब लाचार होकर ज्योतिषी को बुलाया और विवाह का उत्तम मुहूर्त पूछने लगे। तब ज्योतिषी ने लग्न विचारकर कहा-नरनाथ! आज का मुहूर्त बहुत ही अच्छा है। ऐसा मुहूर्त फिर बीसों वर्षों तक भी नहीं बनेगा। क्योंकि सूर्य, चन्द्र और गुरु ये तीनों वर और कन्या के लिये बहुत ही अच्छे हैं। ऐसा उत्तम और निकट मुहूर्त सुनकर राजा प्रसन्न हुआ। और विप्र को दक्षिणा देने लगा, तब उसने हाथ लम्बा नहीं किया अर्थात् दान नहीं लिया। तब राजा ने इसका कारण पूछा तो वह वर्तमान वर की स्थिति पर शोक प्रकाशित करके कहने लगा-

हे राजन्! संसार में प्राणी कर्म से बँधा हुआ है। आपका इसमें क्या दोष है? कन्या का भाग्य ही ऐसा है जो रूप और गुण की खान होते हुए भी कोढ़ी के साथ ब्याही जा रही है। हे

राजा! आपको ही विचार करना चाहिए था। आप ऐसे चतुर, न्यायी और नीतिवान होते हुए भी कैसे भूल गये? आपकी बुद्धि कहाँ चली गयी जो यह अनर्थ करने पर उद्यत हो गये? मालूम होता है कि अब राज्य का कुछ अशुभ होनहार है।

ऐसा कहकर बिना ही द्रव्य लिये, वह ब्राह्मण घर को चला गया। अब क्या था, सब नगर में तथा आसपास चारों ओर सोते-बैठते, खाते-पीते, हर समय यही कथा होने लगी। जो कोई इस बात को सुनता था, वही राजा की बुद्धि को धिक्कारता था।

जब विवाह कार्य आरम्भ होने लगा, तब पुन: मन्त्रियों ने आकर निवेदन किया कि हे राजन्! देखो-अनीति होती है, इसका परिपाक अच्छा नहीं है। एक अबला बालिका के साथ ऐसा अनर्थ करना सर्वथा अनुचित है। आप प्रजापालक हैं, फिर आपकी तो यह तनुजा है।

देखिये, विचारिये, जो राजा मन्त्रियों के वचन पर विचार नहीं करते हैं, जो सुभट रण त्यागकर भागते हैं, जो शूरवीर क्रोध छोड़ देते हैं, जो साधु क्रोध धारण करते हैं, जो दाता विवेकहीन होते हैं, जो साधु वाद करते हैं, जो रागी उदास रहते हैं, जो चोर अपना भेद बता देते हैं, जो रोगी स्वाद के ग्राही होते हैं, जो साधु उधार लेन-देन करते हैं, जो वेश्या व्रत लेकर बैठती है, जो स्त्रियाँ स्वतन्त्र हो घर-घर डोलती हैं, जो पात्र क्रियारहित होते हैं और जो तपस्वी लोभी होते हैं, वह अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए बहुत क्या कहा जाए? अब भी चेत जाओ और पुत्री को दारुण दु:ख में डालने से बचाओ।

हे महराज! अब तक तो आप सदैव मन्त्र (विचार) के अनुसार चलते थे; परन्तु आज क्या हो गया है जो ऐसी रूप और गुण की खान पुत्री को एक कोढ़ी पुरुष को दे रहे हो? हम लोग आपसे सत्य और आग्रहपूर्वक कहते हैं कि इसके बदले आपको बहुत दु:ख उठाना पड़ेगा, इसलिए आप हठ छोड़ दीजिये।

यह सुनकर राजा कहने लगा - हे बुद्धिमान मन्त्रियों! तुम बिना विचार ही क्यों व्यर्थ बकवाद करते हो? मैं जो तिलक कर चुका हूँ, क्या वह भी कोई फिरा सकता है? नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। जो कह चुका हूँ, वही होगा। राजाओं के वचन नहीं जाते, चाहे प्राण भले ही चले जायें। कहा है-

सिंह लगन कदली फलन, नृपति वचन इकवार।
तिरिया तेल हमीर हठ, चढ़े न दूजी बार।।

मन्त्रियों ने फिर भी साहस कर कहा-

हे राजन्! आपका कुल अति निर्मल है, उसको आप कलंकित न करें। यह दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर व्यर्थ अपयश लेना ठीक नहीं है। आपके जैसा निंद्य कार्य कोई अविवेकी भी नहीं करेगा। इसलिए ऐसा नीच कृत्य आपको कदापि नहीं करना चाहिए। यद्यपि मन्त्रियों का कहना राजा के हित के ही लिये था परन्तु जैसे पित्त ज्वरवाले को मिठाई भी कडुवी मालूम होती है, उसी प्रकार हठ रोग से पीड़ित तीव्र कषाय के उदय से राजा को मन्त्रियों के वचन बहुत ही बुरे मालूम हुए। वह क्रोध से भरे हुए लाल-लाल नेत्र करके बोला - बस, बस, बहुत हुआ, चुप

रहो! अब तक मैंने तुम्हारा मान रखा और कुछ भी नहीं कहा। मेरे मन में कुछ और है तुम लोग कुछ और ही कहते हो। सेवक का काम है कि स्वामी की इच्छानुसार प्रवर्ते। यदि अब तुम लोग कुछ भी विरुद्ध बोलोगे तो दण्ड के भागी होवोगे।

मन्त्रीगण राजा के क्रोध भरे वचन सुनकर बोले – हे महाराजा! हम लोग निर्भय होकर प्रार्थना करते हैं। हम लोगों को दण्ड का कुछ भी भय नहीं होता क्योंकि हमारे कुल की यह रीति है कि स्वामी का हित जिस प्रकार होता देखें, उसी प्रकार कार्य करें और अयोग्य प्रवृत्ति को यथाशक्ति रोकने का पूर्ण प्रयत्न करें! यदि हम लोग ऐसा न करें तो हमारे कुल की रीति तथा धर्म जाता है और हम कर्तव्य से च्युत हो जाते हैं। इसी प्रकार से राजाओं का भी यही स्वभाव होता है कि उनको जब कि कोई विशेष कार्य करना होता है, तब मन्त्रियों को बुलाकर उनसे मन्त्रणा करते हैं और सब मिलकर जो राय अधिक प्रशंसनीय होती है, उसी के अनुसार कार्य करते हैं।

यह रीति परम्परा से चली आती है। इसी से हम लोग बारम्बार कहते हैं। इसमें हमारा कुछ भी दोष नहीं है। स्वामी के कार्य करने में हमें जीने और मरने का कुछ भी संशय नहीं रहता है। हे राजन्! विचार कीजिये और हठ का परित्याग कीजिये।

इस प्रकार मन्त्रियों ने यद्यपि बहुत समझाया परन्तु राजा के चित्त पर एक भी बात न जमी, जैसे चिकने घड़े पर पानी नहीं ठहरता है। यह नि:शंक होकर बोला–अरे मन्त्रियों! अब चतुराई करने का समय नहीं है। आप लोग शीघ्र ही मेरी आज्ञानुसार

विवाह की तैयारी करो और मैनासुन्दरी के वर को शोभा (विवाह का एक नेग है जो अगवानी के समय एक सुन्दर बैल सजाकर उस पर बहुत सुवर्ण मुद्रायें तथा अन्य रत्नादि लादकर वर को भेंटस्वरूप देते हैं) पहुंचावो।

तब लाचार होकर मन्त्री अपना-सा मुँह लेकर उठ खड़े हुए और आज्ञानुसार विवाहोत्सव का प्रबन्ध करने लगे, सो ठीक ही है। कहा है-

'नौकर बन्धु वा भामिनी, ऋणी कर्मयुत जीव।
ये पांचों संसार में, परवश भ्रमैं सदीव।।'

इस प्रकार वे मन्त्री लोग तथा स्वजन-परजन सभी राजाज्ञा से विवाहोत्सव में सम्मिलित हुए और विविध प्रकार के मंगलगान नृत्य वादित्रादि होने लगे। सभा मण्डप सुवर्ण और रत्नों से सजाया गया। जिसमें मोतियों के बन्धनवार (तोरण) लटकाये गये। विवाह-मण्डप हरे बांस, पल्लव और पुष्पों से सजाया गया। सुहागिनी (सौभाग्यवती) स्त्रियाँ मोतियों के चूर्ण से चौक पूरने लगीं, इत्यादि यह सब कुछ होता था परन्तु जैसे जल में रहते हुए भी कमल जल से भिन्न ही रहता है, उसी प्रकार इन सब उत्सव में सम्मिलित होनेवालों की दशा थी। सभी लोग राजा की बुद्धि को मन ही मन धिक्कारते और कन्या की दशा का विचार कर करुणार्त हो रहे थे। कहीं बाजे बजते थे और वातावरण शोकागार-सा बन रहा था। तात्पर्य-वह एक ऐसा विचित्र आश्चर्य कारक अवसर था कि नवागन्तुक पुरुष (जो

इस भेद को न जानता हो) की बुद्धि बड़े गोरखधन्धे में पड़ जाती थी। वह यह नहीं जान सकता था कि यह विवाहोत्सव है या कोई शोक-समारोह है।

यद्यपि विवाह की तैयारियाँ जैसी राजाओं के यहाँ होनी चाहिये सब वैसी ही सम्पूर्ण प्रकार से हुई थीं; परन्तु कन्या के भवितव्य का विचार मन में उत्पन्न होते ही वह सब रागरंग भूल जाता था। सब लोग चिन्तित थे; परन्तु राजा पहुपाल को तो यह पड़ रही थी कि कब फेरे फिरें। कारण कि कहीं विघ्न न आ जावे। इसलिए वह मन्त्रियों से बोला - मन्त्रियों! मुहूर्त आ पहुँचा है। तुम लोग शीघ्र ही जाकर वर को सादर ले आओ। मेरा चित्त अत्यन्त विह्वल हो रहा है कि कब जंवाई को देखूं और उसकी यथाशक्ति शुश्रूषा करूँ।

मन्त्रीगण जो अपने सब उपाय करके निष्फल हो चुके थे, वे बिना कुछ कहे ही आज्ञानुसार वहाँ पहुँचे, जहाँ कुष्टीराज श्रीपाल को डेरा दिया गया था, बड़े समारोह से वरराजा को ले आये। जो लोग अगवानी को गये थे, वे वर को देख-देखकर राजा को मन ही मन धिक्कारते और उसकी हंसी करते थे। राजा पहुपाल ने किसी की ओर कुछ भी ध्यान न देकर बड़े आदर से जंवाई का आगे जाकर स्वागत किया और उच्चासन देकर बैठाया तथा उबटन कराकर क्षीर नीर तथा सुगन्ध से भरे हुए कंचन के कलशों से अभिषेक कराया। नाना प्रकार के तेल, फुलेल, अगरजा, इत्र आदि शरीर में मर्दन किये, परन्तु जैसे मैले बर्तन पर कलई नहीं हो सकती, उसी प्रकार इन उपचारों से

श्रीपाल के शरीर की दुर्गन्ध कुछ भी कम न हुई।

अन्तत: वर को वस्त्र, आभूषण और मुकुट, कंकण, जामा इत्यादि सब कुछ पहिनाए गये, परन्तु उस समय का यह सब शृंगार ऐसा था जैसे बन्दर को शृंगारना। क्योंकि एक ओर वस्त्राभूषणों की कान्ति जगमागती थी तो दूसरी ओर पीप और रुधिर की धार बह रही थी। इस प्रकार वर घोड़े पर सवार होकर विवाहमण्डप में आया। कामनी घोरी वनरा (फेरे फिरने के पहिले का गीत) गाने लगीं। उस समय बहुत भीड़ थी। कारण कि एक तो राजघराने का उत्सव और दूसरे यह विचित्र गोरखधन्धा। उस समय वहाँ उस बड़ी भीड़ में लोगों के मुँह से नाना प्रकार के भाव प्रकट होते थे। किसी के चेहरे से शोक, किसी के से चिन्ता, किसी के से भय, किसी के से ग्लानि, किसी के से आश्चर्य, किसी के से क्रोध और किसी के से विरागता-सी झलकती थी। सभी लोग विचार में निमग्न हो रहे थे और कितने ही लोग केवल कौतुक रूप से ही सम्मिलित हुये थे। अतएव उन्हें क्या, चाहे किसी का बुरा हो या भला, अपने कौतुक से काम। उस समय वहाँ इतनी भीड़ हुई कि आकाश धूल से आच्छादित हो जाने से सूर्य का प्रकाश भी ढक गया, मानो कि सूर्य लज्जा से ही छिप गया हो, किसी का कुछ भी भाव हो परन्तु श्रीपाल के आनन्द का तो ठिकाना नहीं था, सो ठीक ही है। जिस स्त्री रत्न के लिये संसार में जीव परस्पर घात करके तन, धन और प्राणों का भी नाश कर बैठते हैं, यदि वही स्त्रीरत्न ऐसी अस्वस्थ अवस्था में भी बिना प्रयास प्राप्त हो जावे

तो फिर भला क्यों न हर्ष हो? होना ही चाहिए। इस प्रकार शुभ मुहूर्त में गृस्थाचार्य ने विधिपूर्वक पंच परमेष्ठी और पंच आदि की साक्षीपूर्वक दोनों का पाणिग्रहण करा दिया। जब विवाह की विधि हो चुकी, तब मैनासुन्दरी अपने पति के साथ उनके आश्रम को पहुँचाई गई। जो लोग भी पहुँचाने गये थे, उन सबके चेहरे से उस समय तक भी शोक, भय, लज्जा आदि भाव प्रदर्शित होते थे। प्रथम तो पुत्री की विदाई (जुदाई) ही दु:खदाई होती है, तिस पर उसका ऐसे दुर्निवार दु:ख का होना।

इसी से सब लोगों की आँखों से अश्रुपाल हो रहे थे। ऐसा मालूम होता था कि मानों श्रावण-भादों की वर्षा की झड़ी ही लग रही हो। राजा पहुपाल स्वयं चित्त में बहुत खेदित और लज्जित हुए, परन्तु क्या करें? कर्म की रेख पर मेख मारने की किसी की सामर्थ्य है? किसी के मुँह से शब्द नहीं निकलता था। चारों ओर हा! हा! खेद की ध्वनि हो रही थी। रानी (मैनासुन्दरी की माता) तथा बड़ी बहिन मैनासुन्दरी के गले से लिपटकर जोर-जोर से रुदन करके कहने लगी-

हाय पुत्री! तूने न मालूम पूर्व जन्मों में कैसे-कैसे कर्म किये थे, जिनसे इस अथाह दु:ख-सागर में तू डुबोई गई! हाय! तू कैसे इस आयु को पूर्ण करेगी? हाय! पुत्री! क्यों तूने इच्छित वर न माँग लिया? हाय! कहाँ तू महा-सुकुमारी बालिका और कहाँ वह कोढ़ी पति? अरे निर्दयी कर्म! किंचित् भी दया नहीं आई? भला, अबला पर तो यह अन्याय न करता।

हे स्वामी! आप दयासिन्धु प्रजापालक थे, परन्तु आपके

दया-क्षमा, सन्तोष आदि गुण कहाँ चले गये? अयुक्त कार्य क्यों किया? उस समय के इनके रुदन को सुनकर पत्थर भी पिघल जाता तो मनुष्य की बात ही क्या है?

राजा पहुपाल स्वयं नेत्रों में आँसू भर गद्‌गद कण्ठ से रुदन कर कहने लगे - हाय कुमति! तुझे और कहीं ठिकाना न मिला, जो आकर मेरे ही हृदय में वासकर, एक भोली कन्या को ग्रास बना लिया! हाय! मैंने हठात् मन्त्रियों के वचन नहीं सुने, उनका ही तिरस्कार कर दिया? पुरोहितजी ने समझाया तो भी न माना। मैंने अपने थोड़े से मिथ्याभिमान के वश होकर पुत्री को आजन्म के लिये दु:खी किया! हाय मैंना! क्या करूँ? नि:सन्देह तेरा कहना सत्य है। वास्तव में तेरे पूर्वोपार्जित कर्मों का उदय ही ऐसा था, जिसका मैं निमित्त बन गया। अब क्या करूँ? हे पुत्री! तू अपने इस कठोर-हृदय अपराधी पिता को अपनी उदारता से क्षमा कर!

जहाँ इस दृश्य को देखकर कठोर से कठोर हृदयी पुरुष भी एक बार जी खोलकर रो देता, वहाँ उस सती शीलवती सुन्दर कोमलांगी बालिका के चेहरे पर अपूर्व खुशी झलक रही थी।

वह इन सब दर्शकों की चेष्टा पर घृणा प्रगट करती हुई सोचती थी कि न मालूम क्यों ये लोग ऐसे शुभ अवसर पर अमंगलसूचक चिह्न प्रगट करते हैं? क्यों नहीं शीघ्र ही मेरी विदा कर देते? क्योंकि ज्यों-ज्यों ये लोग देरी कर रहे हैं, त्यों-त्यों मुझे स्वामी की सेवा में अन्तर पड़ रहा है और साथ ही मेरे भाग्य को दोष देते हुए मेरे पति के लिये कोढ़ी आदि निंद्य वचन कह रहे हैं। जब उससे नहीं रहा गया, तब वह दीर्घ स्वर से बोली-

''हे माता, पिता, बन्धु आदि गुरुजनों! यद्यपि आप सब लोग मेरे शुभचिन्तक हैं और अब तक आप लोगों ने जो कुछ भी मेरे लिये किया, वह सब मेरे सुख के हेतु था; परन्तु अब आप लोगों के ये वचन मुझे शूल से भी तीक्ष्ण मालूम होते हैं। मैं अपने पति के लिये ये वचन अब सुनना नहीं चाहती। क्या आप लोग नहीं जानते कि स्त्री का सर्वस्व पति ही है? जो सती, शीलवती, कुलवती स्त्रियाँ है, वे अपने पति के लिये ऐसे वचन कदापि सुन नहीं सकती हैं। स्त्रियों को उनके कर्मानुसार जैसा वर प्राप्त हो जाये, वही उनको पूज्य और प्रिय है। उसके सिवाय में उनके लिये अन्य सब पुरुष मात्र कुरूप अथवा पिता, भ्राता व पुत्र तुल्य हैं।

यद्यपि आप लोग मेरे पति को कुरूप और रोग-सहित देख रहे हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में वे कामदेव से किसी प्रकार भी कम सुन्दर नहीं हैं। व्यर्थ आप लोग पश्चाताप कर रहे हैं। मुझे सन्तोष है और मैं अपने भाग्य की सराहना करती हूँ कि जो ऐसे शूरवीर, पराक्रमी, सर्वगुण सम्पन्न रूपवान वर की प्राप्ति हुई है।

यदि शुभोदय होगा तो थोड़े ही समय बाद आप लोग इन्हें देव-गुरु-धर्म के प्रसाद से रोगमुक्त देखेंगे। इसलिए आप लोग शान्ति रखें, **किसी प्रकार चिन्ता न करें, संसार में सब जीव कर्माधीन हैं।** सुख के पीछे दु:ख और दु:ख के पीछे सुख, इसी प्रकार संसार का चक्र चलता है। जो कर्म आता है, उसकी निर्जरा भी होती है।

मनुष्य का कर्तव्य है कि उदयजनित अवस्था को पूर्व कर्म का फल समझकर समभावों से भोगे, न कि उसमें हर्ष-विषाद कर संक्लेश भावों से आस्रव और बन्ध करे। समता भावों से शीघ्र ही कर्मों की निर्जरा होती है और पुण्य कर्मों में स्थिति और अनुभाग बढ़ जाता है। और यदि हर्ष-विषाद कर भोगता है तो उदयजनित कर्मों का फल कम तो होता नहीं है किन्तु विशेष दु:खप्रद मालूम होता है और तीव्र कषायों के द्वारा पुन: अशुभ कर्मबन्ध करके आगे के लिये दु:ख का बीज बोता है, क्योंकि जीव कर्म भोगने में परतन्त्र है, परन्तु कर्म करने में स्वतन्त्र है। सो उसे चाहिए कि कर्म करते समय सावधान रहे ताकि अशुभ कर्म बन्ध न पावें और कर्मफल को समभावों से सहन करे, ताकि यहाँ भी भोगने में अतिशय कष्ट न मालूम होवे और आगामी आस्रव तथा बन्ध का कारण भी न हो।

हे स्वजनगण! किसी को सुख-दु:ख देनेवाला संसार में कोई भी नहीं है। केवल संसारी जीवों को उनके अन्तरंग में उत्पन्न हुई इष्टानिष्ट कल्पना ही सुख-दु:ख का मूल कारण होती है, क्योंकि प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जो वस्तु एक को इष्ट है, वही वस्तु किसी दूसरे को अनिष्ट मालूम होती है। यदि कोई वस्तु इष्ट व अनिष्ट होती, तो वह सब को समान रूप से इष्ट व अनिष्ट होना चाहिए थी, सो ऐसा तो नहीं देखा जाता।

देखिये, जिस महान पुरुष को आप लोग अनिष्ट बुद्धि से देखते हैं, वही पुरुष मुझे इष्ट प्रतीत होता है, इसलिए आप लोग इस चर्चा का यहाँ अन्त कर दीजिये और आगामी अपना समय

इस प्रकार की चिन्ता में न बिताइये, मेरी सबसे यही प्रार्थना है। इसमें मेरे पिताजी का किंचित् मात्र भी दोष नहीं है, इसलिए कदापि आप लोग उनको कुछ भी कहकर व्यर्थ क्लेशित न कीजिए।''

पुत्री के ऐसे आगमानुकूल गम्भीर वचन सुनकर सब ओर से धन्य-धन्य की ध्वनि होने लगी, सबको सन्तोष हुआ और सब लोग अपने-अपने स्थान को पधारे। राजा ने भी कन्या को बहुत कुछ दान-दहेज आदि देकर विदा किया। यद्यपि विस्तार के भय से सब दहेज का वर्णन नहीं हो सकता है तो भी थोड़ा-सा कहते हैं।

राजा पहुपाल ने विदा के समय सब स्वजन, परजन व पुरजनों को इच्छित भोजन और अपने जँवाई राजा श्रीपाल को छत्र, चमर, मुकुट आदि अमूल्य रत्नों से सुसज्जित किया तथा पाँचों कपड़े पहिनाये। पुत्री को सम्पूर्ण प्रकार के बहुमूल्य वस्त्र आभूषण दिये और साथ में सेवा करने के लिये हजारों दास-दासियाँ, हाथी, घोड़े, रथ, प्यादे, पालकी, गाय, भैंस और ग्राम, पुर, पट्टन आदि दिये तथा क्षमा माँगकर उनको विदा किया।

कुछ समय तक नगर में यही चर्चा रही। फिर ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, त्यों-त्यों इस बात को भूलने लगे।

सो ठीक ही है -

कोई किसी के दुःख को, नाहीं सकत बटाय।
जाको घी भूमी गिरो, सो ही लूखो खाय।।

●●●

श्रीपाल का कुष्ट रोग दूर होना

जब से श्रीपालजी मैनासुन्दरी को विदा कराकर घर लिवा लाये, तभी से उनको साता के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। ठीक ही कहा है–

शीलवान् नर जहाँ जहाँ जाय, तहाँ तहाँ मंगल होत बनाय।।

मैनासुन्दरी तन, मन, वचन से ग्लानिरहित होकर पति सेवा में लीन हो गयी। वह पतिपरायण अपने हाथों से पीप रुधिर इत्यादि धोती, पट्टी बाँधती, स्नान कराती, उबटन लगाती, लेप करती, कोमल शैय्या बिछाती, वस्त्र बदलती, प्रकृति और रुचि के अनुसार पथ्य भोजन कराती और श्रीजी से निरन्तर रोग की निवृत्ति के लिये प्रार्थना करती थी। नित्यप्रति अतिथियों को भोजन कराने के पश्चात् पति को भोजन कराकर पीछे आप भोजन करती। रात्रि को भी जागरण कर पतिसेवा में तत्पर रहती। इस प्रकार जब वह कोमलांगी दिन-रात कठिन परिश्रमपूर्वक पतिसेवा किया करती थी, तब उसे इस प्रकार उद्यमवन्त देखकर एक दिन श्रीपालजी बोले–

हे प्रिये! कहाँ तो तुम अत्यन्त कोमलांगी, निर्मल, शीलादि गुणों और सुरूप की खान हो कि तुम्हारे मुख को देखकर चन्द्रमा भी शरमा जाता है। तुम्हारे मधुर शब्द कोयल को भी मोहित करनेवाले हैं। तुम्हारी ग्रीवा मोर से भी अधिक शोभा दे रही है, नेत्र मृगी से भी अधिक भोलापन प्रगट करते हैं। कपोल विकसित गुलाब की कली की शोभा को हरनेवाले हैं। नासिका तोते की चोंच के समान, होठ अरुण कुसुम की भाँति शोभा देते

हैं। दाँतों की मोतियों जैसी आभा प्रगट करती है। कूच सुवर्ण कलशों की उपमा को धारण करते हैं। कटि केहरी के समान कृश, जंघा केले के स्तम्भ समान कोमल, चाल हंसनी की सी, स्पर्श रुई से भी कोमल, महा सुगन्धित शरीर और कान्तिमान तेजस्वी तुम्हारी छवि है, और कहाँ मैं अत्यन्त कुरूप, कुष्ट व्याधि से पीड़ित, महा दुर्गन्धित शरीर का हूँ।

इसलिए हे प्राणवल्लभे! जब तक मेरे अशुभ कर्म का उदय है; तब तक तुम दूर रहो! यह राध, रुधिर पोंछते हुए तुमको मैं नहीं देख सकता हूँ। मुझे तुमको इस प्रकार सेवा करते देखकर बहुत करुणा, लज्जा और खेद उत्पन्न होता है कि तुम जैसी सर्वगुण सम्पन्न स्त्री को मेरे जैसा रोगी पति मिला। इसलिए मेरे जब तक असाता कर्म का उदय है, तब तक तुम अलग रहकर ही सुख से काल व्यतीत करो। यद्यपि श्रीपालजी के द्वारा ये वचन मैनासुन्दरी के लिये हित और करुणा बुद्धि से ही कहे गये थे; परन्तु उस समय वे उसे तीक्ष्ण तीर के समान प्रतीत हुए क्योंकि –

'पति निन्दा अरु आप बढ़ाई, सह न सके कुलवन्ती लुगाई।'

वह मन्द स्वर से बोली–नाथ! मुझे आपके ये शब्द सुहावने नहीं लगे। क्या दासी से कोई अपराध बन गया है या सेवा में त्रुटि पायी गयी है, जो ऐसे तिरस्कार युक्त वचन कहे गये हैं? प्राणनाथ! क्या स्वप्न में भी मैं आपको छोड़ सकती हूँ? क्या छाया शरीर से, चाँदनी चन्द्रमा से, धूप सूर्य से, उष्णता अग्नि से और शीतलता हिम से कभी पृथक् हो सकती है? नहीं कदापि

नहीं, चाहे अचल सुमेरु चल जावे, चाहे सूर्य पश्चिम से उदय होकर पूर्व में अस्त होवे और चाहे जल में अग्निवत् उष्णता हो जावे तो भी शीलवान् स्त्रियाँ पति सेवा से विमुख नहीं हो सकतीं।

स्त्रियों को संसार में एकमात्र सुख का आधार उनका पति ही होता है, और यदि पति ही तिरस्कार करे तो फिर संसार में कौन इन्हें अवलम्बन देनेवाला है? जैसी डाली से चूका बन्दर और वृक्ष से टूटा फल इनको कोई सहायक नहीं होता वैसे ही **पति से विमुख स्त्रियों को भी कोई सहायक नहीं होता है।** पुराणों में सीता, द्रोपदी, सुलोचना आदि सतियों की कथाएँ प्रसिद्ध हैं कि जिन्होंने और सब सुखों पर धूल डालकर पति के साथ जंगल-पहाड़ों में शेर, बाघ, स्याल, प्रभृति हिंसक पशुओं का सामना करते हुए, कंकर, पत्थरों की ठोकर खाकर, काँटों पर चलना स्वीकार किया था, परन्तु पति का साथ छोड़ना किसी प्रकार स्वीकार नहीं किया।

इसलिए हे प्रियतम! मैं एक क्षणभर भी आपको ऐसी अस्वस्थ अवस्था में छोड़कर अलग नहीं रह सकती। मैं आपको अपना पति बनाकर अपने आपको बड़ी भाग्यवती समझती हूँ। संसार में वे ही स्त्रियाँ धन्य हैं कि जिन्होंने कुछ भी पति सेवा की है।

प्राणपति! मेरी दृष्टि में तो आपसे अधिक रूपवान्, गुणवान, धैर्यवान, बलवान मनुष्य कोई भी संसार में नहीं दिखता। मेरे नेत्र तो आपको देखकर ही प्रफुल्लित होते हैं। मेरा हृदय तभी तक पवित्र है, जब तक मैं आपका नाम जपती हूँ। हाथ तभी तक पवित्र हैं, जब तक आपके पद प्रक्षालन करती हूँ। तभी तक

धन्य हूँ, जब तक आपकी सेवा करती हूँ। जो स्त्रियाँ शीलरहित हैं, पति की निन्दा करनेवाली हैं, उनको धिक्कार है। शीलव्रत ही जगत में प्रधान रत्न है।

शीलवान् नर-नारियों के देव भी किंकर होते हैं। और गृहस्थ स्त्रियों का शीलव्रत स्वपति की अनुचरी होकर रहना ही है। इसलिए ऐसे पवित्र शीलधर्म को मैं कदापि नहीं छोड़ सकती। शील ही मेरा रूप है, शील ही आभूषण और शील ही शृंगार है और शील ही से जीना है। इसलिए चाहे सर्वस्व चला जाए परन्तु यदि शील बच गया तो कुछ भी नहीं गया समझना चाहिए। इसलिए हे प्राणधार! मेरी यह प्रार्थना है कि दासी को सेवा से विमुख न कीजिये। इस समय आपकी सेवा से बढ़कर आनन्द मुझे संसार में और कुछ हो ही नहीं सकता।

श्रीपाल अपनी प्रियतमा के ऐसे वचन सुनकर रोम-रोम हर्षित होकर गदगद वाणी से प्रशंसा करने लगे। वे कहने लगे कि हे गुणनिधे! तू धन्य है जो तेरे हृदय में शील की प्रतिष्ठा है। और मेरा भी भाग्य धन्य है जो तुझ-सी रूप, शील व गुण की खान पत्नी मुझे मिली। इस प्रकार परस्पर वार्तालाप होता रहता था। नि:सन्देह कर्म की गति अरोक व अमिट है। इसी का विचारकर वे दम्पति परस्पर वार्तालाप में समय व्यतीत करने लगे।

सत्य है, कर्म ने किसी को भी नहीं छोड़ा और तो क्या, वह श्री १००८ पार्श्वनाथ स्वामी पर आक्रमण किये बिना न रहा। यह बात अलग है कि सबल से बैर करने से हार खाकर मरना पड़ा। और देखो-सीता, द्रौपदी, अंजना, रावण, राम,

बाहुबली, भरत आदि जो बड़े-बड़े बली और पराक्रमी नररत्न थे, उनको भी जब कर्म ने नहीं छोड़ा, तब फिर हमारी तो बात ही क्या है? हाँ! एक उन्हीं पर उसका जोर नहीं चलता, जिन्होंने इसको सम्पूर्ण प्रकार से निर्मूल कर दिया है। अहा! हम भी उन्हीं की (कर्म रहित सिद्ध परमेष्ठी की) शरण लेवें तो निश्चय है कि शीघ्र ही कभी हमारे भी कर्मों का अन्त आवेगा। ऐसा विचार होते ही वे दोनों प्रफुल्लित चित्त होकर श्रीजी के गुणानुवाद गाने में निमग्न हो गये। ठीक है-

कर्म असाता अंत ह्वै, उदै जु साता आय।
तब सुध बुध सब ऊपज्ञे, आप हि बने उपाय।।

पश्चात् वे दोनों (दम्पति) उठे और बड़े उत्साह से स्नानकर शुद्ध वस्त्र पहिने और प्रासुक अष्ट द्रव्य लेकर श्री जिन चैत्यालय को वन्दनार्थ गये। सो वहाँ पहुँचकर प्रथम ही **'ॐ जय-जय-जय नि:सहि-नि:सहि-नि:सहि'** कहकर मन्दिर के अन्दर प्रवेश किया। और फिर तीन प्रदक्षिणा देकर श्री जिनेन्द्र की शान्त मुद्रा को देखकर परम शान्तभाव को प्राप्त हो स्तुति करने लगे-

शांति छबी मन भाई स्वामी तेरी, शांति छबी मन भाई।टेक।
दर्शत मिथ्या तिमिर नाश हो, स्वपर स्वरूप लखाई।
परसत परम शांतिता उपजत, अरचत मोह नशाई।। स्वामी.।।
दोष अठारह रहित जिनेश्वर, सब जीवन सुखदाई।
आप तिरे पर तारण कारण, मोक्ष राह बतलाई।। स्वामी.।।
तुम गुणमाल चितारत ही चित, कठिन कर्म कट जाई।
दीप जगत जन भव तट पायो, शरण तुम्हारे आई।।स्वामी.।।

इस प्रकार स्तुति करने के पश्चात् वहाँ पर विराजमान श्री निर्ग्रन्थ गुरु के चरणकमलों में नमस्कार कर दम्पति अपने असाता वेदनीय के नाश होने के निमित्त विनयपूर्वक इस प्रकार पूछने लगे-

हे स्वामी! आपके निकट शत्रु और मित्र सब समान है। मिथ्यात्वरूपी अन्धकार से अन्ध हुए जीवों को ज्ञानांजन द्वारा सनेत्र करने को आप ही समर्थ हैं। हम लोग तो कर्म के पेरे हुए चतुर्गतिरूप संसार में भटक रहे हैं और उन्हीं कर्मों के शुभाशुभ फल में मोह के उदय से इष्टानिष्ट कल्पना कर रहे हैं। इसलिए ही हमको सत्यार्थ मार्ग नहीं सूझता। हम लोग हीन शक्ति के धारक इस जड़ शरीर में ही सुख व दु:खों का अनुभव कर रहे हैं। और इतने कातर हो रहे हैं कि थोड़ी-सी वेदना नहीं सह सकते और इसलिए इस रोग के प्रतिकार का कोई उपाय हो तो कृपाकर बतलाइए। तब मुनिराज बोले-वत्स! सुनो!

।। वसन्ततिलका छन्द।।

धर्मे मतिर्भवति किं बहुभाषितेन।
जीवे दया भवति किं बहुभि: प्रदानै:।।
शांतिर्मनो भवति किं धनदे चतुष्टे।
आरोग्यमस्ति विभवेन तदा किमस्ति।।

अर्थात्- जिसकी बुद्धि धर्म में है तो बहुत कहने से क्या है? जिसके अन्तरंग में जीवों की दया वर्तमान है, उसे और दानों से क्या है? यदि सन्तोष चित्त है तो कुबेर की लक्ष्मी से क्या है? और शरीर निरोग है तो और विभूति से क्या प्रयोजन है? और भी-

।। इन्द्रवज्रा।।

बुद्धेः फलं तत्वविचारणं च, देहस्य सारं व्रतधारणं च।
अर्थस्य सारं किल पात्रदानं, वाचः फलं प्रीतिकरं नराणाम्।।

अर्थात्-बुद्धि का फल तो तत्वों को विचार करना, देह का फल व्रत धारण करना, धन का फल पात्रदान करना और वाणी का फल हितमित वचन बोलना है। इसलिए हे भव्यों! भगवान ने जो दो प्रकार का धर्म कहा है-एक अनगार-साधु का और दूसरा सागार-गृहस्थ का, सो भवसमुद्र के तट पर आये हुए भव्य जीवों को समस्त दु:खों से छुड़ानेवाले हैं। इसलिए जो शीघ्र ही तिरने की इच्छा से चारित्रमोह के क्षयोपशम होने पर अनगार व्रत धारण करते हैं, वे कर्म-शत्रु को जीतकर तद्भव भी मोक्ष के अविनाशी सुख को प्राप्त करते हैं, परन्तु शक्तिहीन पुरुष जो मोह के उदय से सकल संयम धारण नहीं कर सकते, वे देश संयम-गृहस्थ धर्म को ही धारण कर लेते हैं। सो यहाँ पर उसी गृहस्थ धर्म का स्वरूप कहते हैं-

सबसे प्रथम ही जीवों को सत्यार्थ (भूख आदि १८ दोषरहित वीतराग सर्वज्ञ जिनदेव का बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह से रहित दिगम्बर गुरु का और अहिंसामयी धर्म का) श्रद्धान करना चाहिए।

फिर जीवादि तत्वों का स्वरूप समझ करके उनका यथार्थ श्रद्धान करना चाहिए। इसको व्यवहार सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्दर्शन का कारण कहते हैं। इसके अतिरिक्त जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर और मोक्ष आदि तत्त्व कहे गये हैं, उनका

यथार्थ श्रद्धान करना तथा ज्ञान प्राप्त करके अजीव पुद्गल आदि परद्रव्यों से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्य आत्मस्वरूप का श्रद्धान करना/होना उसको निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इस सम्यग्दर्शन को शंकादि आठ दोष तथा जाति, रूप आदि अष्ट प्रकार के मद तथा कुगुरु, कुदेव व कुधर्म तथा उनके तीन सेवक, छह अनायतन तथा लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और पाखण्ड मूढ़ता, इस तरह पच्चीस दोषरहित और नि:शंकित आदि आठ अंगसहित धारण करना चाहिए। इस प्रकार से व्रतरहित श्रद्धावान पुरुष को अव्रती सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

यह सम्यग्दृष्टि जब पंच उदम्बर (बड़, पीपल, ऊमर, पाकर और कठूबर फल) तथा तीन मकार (मद्य, मांस, मधु) का त्याग करके जुआ, माँस, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी और पर स्त्री सेवन आदि व्यसनों का, अभक्ष्य भक्षण और अन्यायरूप प्रवृत्ति का त्याग करते हैं, तब उसको प्रतिमाधारी श्रावक कहते हैं।

और जब संकल्प करके त्रस जीवों का तथा निष्प्रयोजन स्थावर जीवों की हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा अत्यन्त लोभ का एकदेश त्याग करके उसके अतिचारों का भी त्याग करे और पंच व्रतों की रक्षा के लिये सप्त शील गुणों का (तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत) का भी पालन करे, तब उसको दूसरा व्रत प्रतिमाधारी श्रावक कहते हैं।

इनके अतिरिक्त सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग, रात्रिभुक्ति (रात्रिभोजन) त्याग, पूर्ण ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रह-

त्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये उत्तरोत्तर (बढ़ते-बढ़ते) विषय और कषायों को घटानेवाली दूसरी नौ प्रतिमा श्रावकों की हैं, वे यथाशक्ति धारण करनी चाहिए। (इसका विशेष स्वरूप रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि आचार ग्रंथों से जान लेवें।)

यही श्रावक के मुख्य व्रत हैं। **इसलिए जो सम्यग्दर्शनपूर्वक इन व्रतों को निर्दोषरीति से धारण करता है, उसका अन्य व्रत करना भी सार्थक है, अन्यथा वृथा कायक्लेश मात्र है।** अतएव हे भव्यों! तुम प्रथम इन व्रतों को धारण करो और फिर विधि सहित सिद्धचक्र (नन्दीश्वर-अष्टाह्निका) व्रत को पालो, क्योंकि इस व्रत के प्रभाव से सर्व रोग शोक दूर हो जाते हैं।

तब मैनासुन्दरी ने विनयपूर्वक कहा-हे स्वामिन्! कृपाकर इस व्रत की विधि भी बताइये। तब स्वामी ने कहा कि एक वर्ष में तीन बार कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ इन तीनों महीनों में शुक्लपक्ष के अंत के आठ दिन अर्थात् अष्टमी के पूनम तक यह व्रत करना चाहिए। सो उत्तम तो यह है कि आठ ही दिन उपवास करे और मध्यम के बेला, तेलादि अनेक भेदरूप हैं। इसलिए अपनी शक्ति अनुसार जितना हो सके, वैसा अवश्य ही करना चाहिए। और इन उपवास के दिनों में गृहारम्भ तथा विषय कषायों से अपने चित्त को रोककर निज शुद्ध आत्मा का विचार करना चाहिए और जो ऐसा करने में असमर्थ हों (क्योंकि वीर्यांतराय तथा दर्शन और ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुआ जो आत्मा में बल और भले प्रकार से तत्त्वनिर्णय

करनेरूप सम्यग्ज्ञान उसी से शुद्धातमा के अनुभवन में स्थिरीभूत हो सकता है, अन्यथा ऐसा होना सहज नहीं) तो वे अपना समय धर्म-ध्यान, भजन, पूजन, स्वाध्याय, तत्त्वनिर्णय, धर्मोपदेश, सामायिक आदि में बितावें। क्योंकि कहा है-

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासो स विज्ञेयो शेषं लंघनकं विदुः।।

अर्थात्-कषाय, विषय और आहार का त्याग जब होता है, तभी उसे उपवास कहते हैं, शेष तो लंघन ही कहा गया है।

इस प्रकार जब आठ वर्ष पूरे हो जावें, तब विधिसहित उद्यापन करे अर्थात् सप्त क्षेत्रों में जैसे-जिन मन्दिर, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, जिन शास्त्र लिखाना, पूजन विधान करना, तीर्थयात्रा करना, धर्मोपकरण बनवाना, धर्मोपदेश दिलाना, वस्तिकादि बनवाना इत्यादि कार्यों में शक्ति प्रमाण द्रव्य खचे। चार प्रकार के संघ में मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकाओं को चार प्रकार के दान औषधि आहार शास्त्र (ज्ञान) और अभयदान देवें। दुःखित भुक्षित को करुणा कर दान दे संतोषित करे, जहाँ जिनमन्दिर न होवे, वहाँ साधर्मी भाईयों के धर्मसाधन के निमित्त जिनमन्दिर बनवावें, शास्त्र लिखावें, विद्यालय बनवावें, वस्तिका (संयमियों के रहने योग्य मुकाम) बनवावें। इस प्रकार उत्साकपूर्वक **अतिचाररहित व्रत करने से और तो क्या क्रमशः कर्म का नाश होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।**

इस प्रकार मैनासुन्दरी और श्रीपाल राजा ने मुनिराज के

द्वारा व्रत की विधि सुन सहर्ष स्वीकार किया और विनयसहित नमस्कार करके अपने स्थान को पधारे और परस्पर प्रेमालाप करते हुए समय व्यतीत करने लगे। जब कभी राजा को उद्वेग हो जाता तो मैनासुन्दरी और मैंना को खेद हो जाता तो राजा श्रीपाल नम्र और मधुर शब्दों में प्रेमपूर्वक धैर्य देते, कभी तत्त्व चर्चा करते और कभी जिनेन्द्र के गुणों में आसक्त होकर स्तुति करते। इस तरह सुखपूर्वक दम्पति का समय व्यतीत होता था। ठीक ही है क्योंकि-

नरनारी दोनों जहां विद्या बुद्धि निधान
तिनके सुख को जगत में, को कर सके बखान?

बस, इस तरह कुछ दिन व्यतीत होने पर कार्तिक का पवित्र महीना आया तो शुक्ल अष्टमी को मैनासुन्दरी बड़े हर्षसहित प्रासुक जल से स्नान कर शुद्ध वस्त्र पहिन श्री जिनमन्दिर में गयी और विधिपूर्वक अष्टद्रव्य से प्रभु की पूजा की तथा आठ दिन के लिए नन्दीश्वर व्रत धारण किये। इस प्रकार से वह नित्यप्रति आठों दिन भगवान की पूजा करके गन्धोदक लाती और सात-सौ सखों सहित अपने पति श्रीपाल के कुष्ट से गलित शरीर पर छिड़कती थी।

इस प्रकार श्रीपाल के असाता कर्म के अन्त और साता (पुण्य) के उदय होने के कारण उस सती की सच्ची पतिसेवा, प्रभुभक्ति तथा व्रत का प्रभाव ही था कि आठ ही दिन में श्रीपाल और उनके सात-सौ सखों के शरीर का कोढ़ इस तरह निर्मूल

हो गया मानो कि उन्हें कभी रोग हुआ ही नहीं था। और श्रीपाल का शरीर तो कामदेव के समान सुन्दर हो गया। अहा! देखो सती के सतीत्व तथा पतिसेवा और व्रत का प्रभाव कि अल्प समय में ही सात-सौ सखों सहित राजा श्रीपाल का कोढ़ बिल्कुल चला गया। ठीक है-

ज्यों दीपक की ज्योति से, अन्धकार नाश जाय।
त्यों जिनधर्म प्रभाव से, कठिन कर्म कट जाये।।
जिन सुमरे व्यन्तर भगे, भूत पिशाच पलाहिं।
तो अचरज या में कहाँ, रोग शोक नश जाहिं।।
इस ही भव यश सुख लहे, परभव की क्या बात।
बहुत कहा कहिये भविक! अनुक्रम कर्म नशात।।
ताते सम्यक्दर्श युत, धारो सम्यक्ज्ञान।
पुनि सम्यक्चारित्र धर, करो स्वपर कल्याण।।

इस प्रकार उनके असाता कर्म क्षय हुए और वे दम्पति परम आनन्द से सखों सहित अपना जीवन व्यतीत करने लगे। यथार्थ में स्त्रियों का यही धर्म है कि तन, मन, धन से पति सेवा में तत्पर रहें। क्योंकि कहा है-

पति सुख लख होवे सुखी, पति दुख दुखित होय।
धन्य जनम उन त्रियन को, सती पतिव्रता जोय।।
देखो मैंनासुन्दरी, पायो फल अभिराम।
सुख सम्पति पाई सबहिं, पति हुवो ज्यों काम।।

●●●

श्रीपाल की माता का श्रीपाल से मिलना

इस प्रकार असाता कर्म के अन्त होने से मैनासुन्दरी श्रीपाल सहित देवों के समान दिव्य सुख भोगने लगी। ठीक है-रात्रि के पीछे दिन होता ही है और सत्य हृदय से की गयी सेवा तथा परिश्रम का फल अवश्य मिलता है। इनको ऐसा आनन्द हुआ कि निश-वासर जाते मालूम नहीं होते थे। ठीक है-जिस कार्य के लिये परिश्रम किया जाए और जब वह कार्य सिद्ध हो जाए तो फिर किसको हर्ष नहीं होता? कहा है-

साता उदय न लख परे, केतक बीतो काल।
उदय असाता एक क्षण, बीते जैसे साल।।

परन्तु धन्य है वह सती मैनासुन्दरी, जो केवल विषयों ही में मग्न नहीं हो गयी थी, किन्तु वह धर्म को ही उभय लोकों के सुखों का मुख्य साधन और परम्परा मोक्ष का कारण जानती हुई बराबर सेवन करती थी। क्योंकि उसे यह निश्चय था कि यह सब विभूति जो मुझे प्राप्त हुई है, सो केवल धर्म का ही फल है। इसलिए मुझे धर्म को छोड़कर केवल उसके फल अर्थात् अर्थ और काम में ही आसक्त नहीं हो जाना चाहिए; क्योंकि -

'मूलो नास्ति कुतो शाखा'

मूल के नाश होने पर डाली कहाँ हो सकती है? यथार्थ में वे बड़े मूर्ख हैं जो मूल को नाशकर फलों की आशा करते हैं। कहा है-

ज्यों जल डूबत कोय, वाहन तज पाहन गहे।
त्यों नर मूरख होय, धर्म छोड़ सेवत विषय।।

ऐसा समझकर जो नर बुद्धिमान हैं, वह धर्म को नहीं विसार कर उससे अविरुद्ध अर्थ और काम को (कर्मफल समझकर) भोगते हैं। कहा है-

बीज राख फल भोगवे, ज्यों किसान जग मांहि।
त्यों बुधजन सुख भोगवे, धर्म विसारे नांहि।।

यह बात तो यहाँ तक हुई। अब श्रीपालजी की माता कुन्दप्रभा का हाल कहते हैं। राजमाता कुन्दप्रभा पुत्र के वियोग तथा उसकी अस्वस्थ अवस्था का विचार करती हुई अत्यन्त दु:खित रहा करती थी और कभी तो दो-दो दिन तक भोजन भी नहीं करती थी। चिन्ता से उसका शरीर क्षीण हो रहा था क्योंकि माता का प्रेम पुत्र पर अनन्य ही होता है। वह बालक को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करती है।

उसके दु:ख को ही अपना दु:ख समझती और उसे दु:खी देखकर अपना भी दु:ख भूल जाती है। चाहे पुत्र भला-बुरा कैसा भी क्यों न हो, वह चाहे माता को कितना भी कष्ट क्यों न देता हो, परन्तु तो भी माता उसे सदैव प्रेमदृष्टि से ही देखती है। धिक्कार है, उन पुरुषों को जो अपनी माताओं को किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचाते हैं। यथार्थ में उनके समान कृतघ्नी संसार में और कोई भी नहीं हो सकता। इस प्रकार माता कुन्दप्रभा को अपने पुत्र की चिन्ता हुए बहुत दिन व्यतीत हो गये, परन्तु क्या करे, निरुपाय थी।

यद्यपि उसे पुत्र का मोह अवश्य था, यहाँ तक कि इससे शरीर भी अत्यन्त क्षीण हो गया था; परन्तु वह प्रजावत्सल रानी इस दशा में भी श्रीपाल को बुलाकर पास रखना नहीं चाहती थी; क्योंकि जिस कार्य से केवल अपना मन प्रफुल्लित हो; परन्तु सर्व साधारण अर्थात् प्यारी प्रजा को दु:ख पहुँचे, वह काम उत्तम पुरुष कभी नहीं करते हैं।

सत्य है, दूसरों के पुत्रों को मारकर या अन्य प्रकार से उन्हें पुत्र आदि इष्टजनों के वियोगजनित दु:ख पहुँचाकर संसार में कोई भी पुत्र लाभ नहीं कर सकता है। निदान एक दिन माता स्नान कर शुद्ध वस्त्र पहिन श्री जिनमन्दिर गयी और प्रथम ही श्री जिन भगवान की वन्दना स्तुति कर पश्चात् वहाँ बैठे हुए श्री मुनिराज को नमस्कार कर विनयपूर्वक अपने पुत्र की कुशल पूछने लगी। तब उन परम दयालु, शत्रु व मित्र को समान जाननेवाले परम दिगम्बर जैन गुरुराय ने अवधिज्ञान से श्रीपाल के उज्जैन (मालवा) जाने, वहाँ के राजा पहुपाल की पुत्री मैनासुन्दरी के साथ सम्बन्ध होने और कुष्ट व्याधि के दूर हो जाने आदि का सम्पूर्ण वृत्तान्त रानी कुन्दप्रभा को कह दिया। सो अपने पुत्र को स्वास्थ्य लाभ और स्त्री लाभ की वार्ता सुनकर रानी प्रसन्नचित्त होकर घर आयी। और अपने देवर वीरदमन (वर्तमान राजा जो कि इस समय श्रीपाल की जगह राज्य करते थे) के पास जाकर अपने पुत्र से मिलने की आज्ञा माँगी और अति उमंग सहित शीघ्रता से उज्जैन को प्रयाण किया।

इस समय कुन्दप्रभा रानी का चित्त पुत्र से मिलने के लिए

बहुत ही आतुर हो रहा था, इसलिए दिन-रात का कुछ भी विचार न कर बराबर प्रयाण करती हुई माता कुछ ही दिनों में उज्जैन के उद्यान में पहुँच गयी। ठीक है, एक तो सहज ही इष्ट के मिलने की चाह हुआ करती है, फिर तो यह निज पुत्र से मिलने का उत्साह था, सो इसमें तो कहना ही क्या है? वास्तव में माता को पुत्र से प्यारा और कुछ भी नहीं होता। इस प्रकार उसने वहाँ पहुँच कर नगर बाह्य अति उत्तंग महल देखा और विस्मययुक्त होकर वहाँ से जाते हुए एक वीर (योद्धा या सिपाही) से पूछा कि यह किस महा भाग्यवान का महल है? तब उस वीर ने कहा-

माताजी! यहाँ पर न मालूम कहाँ से एक कोढ़ी पुरुष जिसका नाम श्रीपाल था, बहुत से कोढ़ियों सहित आया था, जो बहुत दिनों तक इसी उद्यान में रहा। किसी एक दिन यहाँ का राजा पहुपाल वनक्रीड़ा के निमित्त कहीं से भ्रमण करता हुआ यहाँ आ निकला और वह उस कोढ़ी को देख मोहित होकर उससे गले लगकर मिला और चलते समय अपनी परम गुणवती रूपवती सुशील कन्या मैनासुन्दरी भी इसे देने का वचन दे गया। यद्यपि मन्त्री, पुरोहित आदि सभी जनों ने राजा को इसके विरुद्ध समझाया, परन्तु होनी अमिट है।

राजा ने किसी की भी बात न मानी और बड़े हर्षसहित उस कोढ़ी को बुलाकर अपनी पुत्री के साथ उनका विवाह कर दिया। इस कृत्य से सब प्रजा राजा से अप्रसन्न हो गयी थी, परन्तु करती ही क्या? कुछ वश में ही क्या था।

भला जब स्वामी ही प्रसन्न हैं तो नौकर या आश्रितजन कर

ही क्या सकते हैं? यद्यपि स्वजन-पुरजन सब ही इस अनुचित सम्बन्ध से दु:खी थे, तथापि धन्य है उस राजपुत्री को कि जिसके मुख से ऐसा अनिष्ट सम्बन्ध होते हुए भी आनन्द बरसता था। निदान, विवाह होने के पश्चात् उस सती शीलवती ने अपने पति की नि:सीम सेवा की और अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा दयामयी धर्म में अपूर्व भक्ति की और सिद्धचक्र व्रत को सम्यग्दर्शन तथा ज्ञानसहित धारण कर विधियुक्त पालन किया।

इसी से हे माता! अब उसके शील और जिनधर्म के प्रभाव से वही कोढ़ी भी कामदेव के समान अत्यन्त रूपवान हो गया है और उसके सब साथियों का भी रोग इस तरह से चला गया है, मानो कभी हुआ ही नहीं था। और अब तो उसके सुख व वैभव का वर्णन मैं कर ही क्या सकता हूँ? सो हे माता! यह उत्तंग सुन्दर महल उसी महाभाग्यशाली पुरुष का है।

यह सुनकर रानी प्रसन्न हो उस महल के द्वार पर गयी और नियमानुसार द्वारपाल से राजा को खबर देने के लिये कहा। द्वारपाल ने शीघ्र ही श्रीपाल से यह सन्देश कह दिया। श्रीपाल माता का आगमन सुनकर अपनी प्रिया मैनासुन्दरी से कहने लगे कि प्रिये! हमारी माताजी आयी हैं, सो उनका आदर-सत्कार भली प्रकार करना चाहिए। किसी प्रकार से भी उनको खेद का कारण न होने पावे। यह कहना श्रीपालजी का तो ठीक ही था; परन्तु मैनासुन्दरी के लिये तो इसकी कुछ भी आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि उसमें उत्तम स्त्रियों के सम्पूर्ण उत्तम गुण स्वभाव से ही विद्यमान थे।

वह जानती थी कि किस पुरुष से कैसे व्यवहार करना चाहिए, इसलिए वह पति की आज्ञा शिरोधार्य कर हर्षसहित मंगल कलश लेकर अपने स्वामीसहित सास की अगवानी के लिये गयी। और बड़ी विनय व भक्तिसहित उनको नमस्कार कर स्वागत किया और लज्जायुक्त उनके पीछे खड़ी हो गयी। श्रीपाल ने भी माता के पादारविन्दों को स्पर्शकर मस्तक झुकाया। तब माता ने उन दोनों को पुत्र-पुत्रीवत् प्रेम से गले लगा लिया और शुभाशीर्वाद दिया। उस समय अत्यन्त मोह व बहुत दिन तक विपत्ति के बाद मिलने के कारण उनके रोमांच हो आये और नेत्रों से हर्षाश्रु टपकने लगे, फिर वे परस्पर कुशलक्षेम पूछने लगे। तब श्रीपाल ने अपने यहाँ आने और मैनासुन्दरी के साथ विवाह सम्बन्ध होने, उसके निर्दोष अष्टाह्निका व्रत पालने और सच्ची सेवा करने के कारण कुष्ट व्याधि के क्षय होने का सम्पूर्ण वृत्तान्त आद्योपान्त माता से कह सुनाया, तब माता कुन्दप्रभा ने बहू मैनासुन्दरी को यह आशीर्वाद दिया-

''हे पुत्री! तू बहुत-सी रानियों में पट्टरानी हो और यह श्रीपाल कोटीभट्ट चिरंजीव रहे तथा पहुपाल राजा जिसने यह उपकार कर निज पुत्रीरत्न मेरे पुत्र को दिया, वह बहुत कीर्ति व वैभव को प्राप्त हो।''

माता का यह शुभाशीर्वाद सुन बहू और बेटे ने अपना-अपना मस्तक झुकाया और विनीत भाव से कहने लगे - हे माता! यह सब आपका ही आशीर्वाद है कि हमने आज आपके दर्शन से सम्पूर्ण आनन्द प्राप्त किया। धन्य है आज की घड़ी

और दिन कि जिससे हमें आपके ये शुभ वचन सुनने को मिले। आपके पग प्रक्षालने से हमारे हाथ, दर्शन से नेत्र, वार्तालाप से कर्ण और शुभाशीर्वाद से मन पवित्र हुआ। तात्पर्य - हम लोग आज आपके दर्शन से कृतकृत्य हुए हैं, इत्यादि परस्पर वार्तालाप करके सुखपूर्वक कालक्षेप करने लगे।

●●●

एक दिन वे श्रीपाल और मैनासुन्दरी स्नानकर शुद्ध वस्त्र पहिन शृंगारपूर्वक अति उत्साह से जिनमन्दिर को गये। वहाँ पर श्री जिनदेव की अष्ट प्रकार से पूजनकर अपना अहोभाग्य मानते हुए धर्म-श्रवण की इच्छा से यहाँ-वहाँ देखने लगे। तो वहाँ पर साक्षात् मोक्षमार्ग में स्थित श्री परम दिगम्बर महा मुनिराज को देखकर अति प्रसन्न हुए और नमस्कार करके स्तुति करने लगे-

जय जय मुनिवर गुणहि विधान, जय जय करुणासागर प्रधान।
जय जय अभयदान दातार, जय जय भवदधि तारनहार।।
जय जय चरण आचरण धीर, जय जय मोह दलन वरवीर।
जय जय क्षमावंश सुख धाम, जय जय शिव सीतापति राम।।
जय जय सहन परीषह देह, जय जय दश लक्षण गुण गेह।
जय जय रत्नत्रय व्रत धरन, जय जय बारह विधि तप करन।।
जय जय श्रीगुरु दीन दयाल, अब तो शरण लही श्रीपाल।।

इस प्रकार स्तुति कर वे दोनों वहाँ विनयसहित यथायोग्य स्थान पर बैठ गये। यथार्थ में जो कोई भी शुभ इच्छा की जाती है, वह अवश्य ही सफल होती है। कहा है-

उपजे शुभ इच्छा मन कोई, सो निश्चय कर पूरण होई।
परन अशुभ चिंत्ते सिद्ध होई, तासो अशुभ न चिंतो कोई।।

●●●

इस बात को यहाँ छोड़कर राजा पहुपाल का वृत्तान्त कहते हैं। एक दिन राजा पहुपाल को अपनी पुत्री के दुःख की बात याद आ गयी, सो वह अपने हठपूर्वक किये हुए दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप करने लगा और इसलिए उसका शरीर मारे चिन्ता के दिन-प्रतिदिन क्षीण होने लगा। ठीक है-

चिन्ता चिता समान, बिन्दुमात्र अन्तर लखो।
चिता दहति निष्प्राण, चिन्ता दहति सजीव को।।

यह दशा देखकर उसकी रानी निपुणसुन्दरी बोली-हे नाथ! आपका शरीर दिनों-दिन क्षीण क्यों होता जाता है? चित्त उदास रहता है। आपका मुखकमल पीला और कान्तिहीन होता जाता है, इसका कारण क्या है? कृपाकर कहिये। यद्यपि राजा ने अपने मन की बात इस विचार से कि अभी तो मैं ही दुःखी हूँ और जो रानी से कहूँगा तो वह भी दुःखित हो जायेगी, छुपाना चाहा, परन्तु वह अपनी प्राणवल्लभा से और अधिक समय तक छुपा नहीं सका। ठीक है - पुरुष यदि अपने भाव को किसी प्रकार छिपाना भी चाहे परन्तु संसार में जो चतुर स्त्रियाँ हैं, वे तुरन्त ही उनकी चेष्टा से, वचनों से व रहन-सहन से अपने पति के मन का भाव जानकर, अपने हाव, भाव, विभ्रम, कटाक्ष और रसीले ललित शब्दों या कार्यकुशलता से प्रगटरूप से कहला ही लेती हैं।

यथार्थ में वे स्त्रियाँ, स्त्रियाँ ही नहीं कहीं जा सकती हैं कि जिनको अपने पति के सुख-दु:ख व उनके मन का भाव जानने की शक्ति नहीं है, या जो जानने की चेष्टा करती ही नहीं हैं। स्त्री पुरुष की अर्द्धांगिनी कही जाती हैं, इसलिए यदि एक अंग को पीड़ा होवे तो दूसरे को अवश्य ही खबर पड़ना चाहिए। निदान, राजा ने अपनी चिन्ता का हाल रानी से कह दिया। तब रानी ने भी दु:खित हो विनीत वचनों से कहा-

हे स्वामी! संसार में होनहार अमिट है। कर्म जीव के साथ ही लगे हैं, और सब जीव संसार में स्व स्वकृत कर्मों का फल भोगते हैं। पुत्री का उदय ऐसा ही था तो उसमें आप, मैं व स्वजन परजन आदि कर ही क्या सकते थे? हम सब तो निमित्त मात्र हैं, इसलिए अब इस चिन्ता से कुछ लाभ नहीं है। चिन्ता से तो केवल शरीर का शोषण और कर्मबन्ध ही होगा। इसलिए चिन्ता को त्याग करना ही उचित है।

इस प्रकार रानी ने अपने पति को धैर्य बंधाया। यद्यपि रानी को भी अपनी पुत्री का दु:ख कुछ कम न था; क्योंकि पिता से अधिक प्यार पुत्र और पुत्रियों पर माता का ही होता है परन्तु उस समय यदि रानी भी शोक करने लग जाती तो किसी प्रकार राजा के प्राण नहीं बच सकते थे। इसलिए ही रानी ने अपने भाव को प्रकट न कर राजा को धैर्य बंधाया।

सो ठीक है पति-पत्नी का यही धर्म है कि जब पत्नी को चिन्ता व दु:ख आवे तो पति निवारे और जब पति को कोई चिन्ता व दु:ख आवे तो पत्नी निवारण करे।

धन्य हैं, वे स्त्रियाँ जो विपत्ति के समय में अपने पति को मन्त्री की तरह से सलाह और माता की तरह से धैर्य देवें तथा मित्र की तरह से प्रत्येक कार्य में सहायता दें, और स्वप्न में भी छाया के समान कभी अलग न होवें। वह बोली - हे स्वामी! दिन के बाद रात्रि और रात्रि के बाद दिन अवश्य होता है, इसी प्रकार शुभाशुभ कर्मों का भी चक्र है। जो उदय आता है, उसकी निर्जरा भी नियम से होती है।

फिर यह भी किसे मालूम है कि किसके कर्म में क्या लिखा है? इसलिए अब इस चिन्ता को छोड़िये और श्रीगुरु के पास चलकर इस संशय का निराकरण कीजिए। इस प्रकार राजा को धैर्य देकर रानी ने स्नान कर शुद्ध वस्त्र पहिने और श्री जिनमन्दिर को गयी, वहाँ प्रथम ही श्री जिनराज को मन-वचन-काय सहित साष्टांग नमस्कार कर स्तुति वन्दना करने के पश्चात् वहाँ बैठे हुए श्री दिगम्बर गुरु को नमस्कार कर यथायोग्य स्थान में बैठी और ज्यों ही कुछ पूछने के लिये मुँह खोला था कि उसकी दृष्टि वहीं पर बैठे हुए श्रीपाल और निज पुत्री मैनासुन्दरी पर पड़ी। सो देखते ही उसके मन का भाव बदल गया। तुरन्त ही उसका चेहरा लाल हो गया और आँखों से क्रोध झलकने लगा, दीर्घ उस्वास लेने लगी कि यदि यह पुत्री होते ही मर जाती, तो अच्छा होता; जिससे स्फटिक सरीखे निर्मल मेरे कुल में कलंक तो न लगता।

हाय पुत्री! तूने यह क्या अनर्थ किया, जो स्व-पति को छोड़ अन्य पुरुष को लिए बैठी है? तुझे कुछ भी लाज नहीं आती है? तू तो बड़ी चतुर थी, परन्तु मुझे यह मालूम नहीं था

कि ये सब बातें केवल दिखाऊ थीं। यदि ऐसा ही था तो जब तेरे पिता ने तुझे वर माँगने को कहा था, तभी क्यों नहीं सुरसुन्दरी के समान उत्तम वर माँग लिया? सो तब तो बड़ी-बड़ी चतुराई की बातें बनायी और अब न जाने वह बुद्धि और चतुराई कहाँ चली गयी? इत्यादि विचारते-विचारते रानी की आँख से आँसू टपकने लगे। ठीक है - भला संसार में ऐसे कौन माता-पिता हैं, जो अपने पुत्र व पुत्रियों को दुराचारी देखकर दु:खी न हों? अर्थात् सभी होते हैं।

उस समय मैनासुन्दरी ने अपनी माता को बिलखित वदन देखकर उसके भाव को समझ लिया और इसलिए तुरन्त अपने पतिसहित उसके पास जाकर बड़े प्रेम व विनयसहित प्रणाम किया, परन्तु जब माता ने इस पर कुछ ध्यान न दिया, तब उसने निश्चय कर लिया कि अवश्य ही पूज्या माताजी को मेरे विषय में कुछ संशय हो गया है।

इसलिए वह मधुर वचनों में नम्रतापूर्वक बोली - माताजी! आप अपना सन्देह छोड़ दीजिए। यह आपके जँवाई वही कोढ़ी राजा श्रीपालजी ही हैं, जिनके साथ आपने मुझे परणाया था। धर्म के प्रभाव से अशुभ कर्म का क्षय होने से इनका ऐसा कामदेव के समान स्वरूप हो गया है। इस प्रकार मैनासुन्दरी ने बहुत कुछ कहा; परन्तु रानी को विश्वास न आया।

वे बोली - अरी पुत्री! तू क्यों ऐसी निर्लज्ज हुई, मुझे झूठमूठ बहकाती है? चाहे अग्नि शीतल हो जाए और सूर्य पूर्व से पश्चिम में उगने लगे, तब भी मैं तेरी बात सत्य नहीं मान

सकती। अपनी सासू के ऐसे वचन सुनकर महाराज श्रीपाल ने नम्रीभूत हो कहा – माताजी! नि:सन्देह आपकी पुत्री के वचन विश्वसनीय हैं। धन्य है आपका कुल कि जिसमें ऐसा गुणनिधान स्त्रीरत्न उत्पन्न हुआ और धन्य है, इसके अखण्ड शील और व्रत का माहात्म्य कि जिसके प्रभाव से सात सौ सखों सहित मेरा कोढ़ समूल नाश होकर मेरा ऐसा सुगन्धित सुन्दर शरीर हो गया है। मैं वही कोढ़ी श्रीपाल हूँ, इसलिए आप अपना सन्देह दूर कीजिए।

जँवाई के मुख से ऐसा वचन सुनकर निपुणसुन्दरी को सन्तोष हुआ और हर्ष से रोमांच हो आये। वह प्रेम की दृष्टि से लड़की और दामाद को देखकर मन ही मन प्रफुल्लित होने लगी; परन्तु इस आनन्द को उसने अकेले ही भोगना उचित न समझा और अपने पति को भी इसका भाग देने की इच्छा से शीघ्र ही गुरु को नमस्कार कर राजमहल को प्रयाण किया और सीधी पति के निकट जाकर सब वृत्तान्त निवेदन किया।

राजा पहुपाल यह शुभ समाचार सुनकर अति प्रसन्न हुआ। सो ठीक है – जिस बात की चिन्ता हो और यदि उसी के मिटने की बात सुनाई दे, या चिन्तित कार्य सिद्ध हो जाये, तो किसको खुशी नहीं होती? राजा तुरन्त ही स्नान कर शुद्ध वस्त्र पहिन पुत्री व जंवाई को देखने की आतुरता से शीघ्र ही जिनालय में पहुँचा और प्रथम ही श्रीजिनेन्द्र की वन्दना कर गुरु को नमस्कार किया। पश्चात् पुत्री की ओर देखा तो पुत्री ने विनय सहित पिता को प्रणाम कर लज्जा से नम्रीभूत हो मस्तक झुका लिया। राजा

ने पुत्री को गले लगाया और परस्पर दोनों ने वियोगानन्तर सम्मिलित होने पर जैसा हर्ष-विलाप होता है किया। राजा ने इन्हें भी प्रेमपूर्वक कण्ठ से लगा लिया। परस्पर कुशल पूछने के बाद राजा पहुपाल ने अपने अविचारितरम्य कृत्य की निन्दा की और पश्चाताप करने लगा। तब उस दम्पति ने राजा को विनयपूर्वक समझाकर धैर्य बँधाया।

राजा ने पुत्री से उसकी पूर्व व्यथा और उसके दूर होने का वृत्तान्त पूछा। तब पुत्री ने आद्योपान्त कह सुनाया। यद्यपि इससे राजा को बहुत कुछ शान्ति मिली; परन्तु मन की शल्य निःशेष न हुई। ठीक है - कष्टसाध्य वस्तु के सहज सिद्ध हो जाने से एकदम शंका का परिहार नहीं हो जाता, जब तक कि ठीक-ठीक साक्षी न मिले। इसलिए राजा अपनी शंका निर्मूल करने हेतु श्रीगुरु के पास गये और विनयसहित नमस्कार कर पूछने लगे-

हे धर्मावतार दयालु प्रभु! श्रीपाल के कोढ़ दूर हो जाने का वृत्तान्त कृपाकर कहो। तब श्रीगुरु ने सब वृत्तान्त आद्योपान्त अवधिज्ञान के बल से सुना दिया। सुनते ही राजा की शल्य निःशेष हो गयी। इस प्रकार राजा पहुपाल अपनी पुत्री और दामाद सहित गुरु को नमस्कार कर निज स्थान को गया, और दोनों को स्नान कराकर अमूल्य वस्त्राभूषण पहिनाये, तथा अनेक प्रकार से पुत्री और दामाद की प्रशंसा व सुश्रुषा की। इस तरह वे परस्पर प्रेमपूर्वक अपना-अपना समय आनन्द से बिताने लगे। हे सर्वज्ञ वीतराग दयालु प्रभु! जैसे दिन श्रीपाल व मैनासुन्दरी के फिरे ऐसे ही सबके फिरें।

●●●

उज्जैनी से श्रीपाल का गमन

श्रीपाल को प्रिया सहित उज्जैनी में रहते हुए बहुत दिन हो गये। क्योंकि आनन्द में समय जाते मालूम नहीं होता था। एक दिन दोनों रात्रि को सुखनींद ले रहे थे कि श्रीपाल की नींद अचानक खुल गयी, और उनको एक बड़ी भारी चिन्ता ने घेर लिया। वे पड़े-पड़े करवटें बदलने लगे और दीर्घ उस्वास लेने लगे। भला, ऐसी अवस्था जब पति की हो गयी; तब क्या स्त्री को निद्रा आ सकती थी? नहीं, कदापि नहीं। एक अंग की पीड़ा दूसरे अंग को अवश्य ही होती है।

वह पति परायण सती तुरन्त ही जागी और पति के पैर पकड़कर मसलने तथा पूछने लगी - हे नाथ! चिन्ता का कारण क्या है, सो कृपाकर कहो। क्या राजा ने कुछ कटु वचन कहा है? या स्वदेश की याद आ गयी है? या किसी ने आपके चित्त को चुरा लिया है? अथवा ऐसा ही कोई और कारण है? हे प्राणधार! आपको चिन्तित देख मुझे अत्यन्त चिन्ता हो रही है।

तब श्रीपाल ने बहुत संकोच करते हुए कहा - प्रिये! और तो कोई चिन्ता नहीं है, केवल यही चिन्ता है कि यहाँ रहने से सब लोग मुझे राज-जँवाई कहते हैं और मेरे पिता का नाम कोई भी नहीं लेता है। इसलिए वे पुत्र जिनसे पिता का कुल व नाम लोप हो जाये, यथार्थ में पुत्र कहलाने के योग्य नहीं हैं। इसी बात का दु:ख मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ है, क्योंकि कहा है-

सुता और सुत के विषैं, अन्तर इतनो होय।
वह परवंश बढ़ावती, वह निज वंश हि सोय।।
जो सुत तज निज स्वजन पुर, रहे स्वसुर गृह जाय।
सो कुपूत जग जानिये, अति निर्लज्ज कहाय।।

इसलिए हे प्रिये! अब मुझे यहाँ एक-एक क्षण एक वर्ष बराबर बीत रहा है। बस, मुझे यही दुःख है। यह सुनकर मैनासुन्दरी ने कहा - हे नाथ! यह बिलकुल सत्य है, क्योंकि कहा है-

भाई रहे बहिन के तीर, बिन आयुध रण चढ़े जो धीर।
धन बिन दान देन जो कहे, अरु जो जाय सासरे रहे।।
हंस बसे पोखरी जाय, केहरि बसे नगर में आय।
सती तने मन विकलप रहे, रण से सुभट भागवे कहै।।
बोले काग आम की डाल, मान सरोवर बगुलाचाल।
कुञ्जर बसे सिंह वन मांहि, त्रियसों जो हंसी कराहि।।
मूरख बांचे महापुराण, कुल भामिन गह खोटी वान।
इतने जन जग निन्दा लहें, ऐसे बड़े सयाने कहें।।

इसलिए आपका विचार अति उत्तम है। प्रत्येक मनुष्य को अपने कुल, देश, जाति, धर्म व पितादि गुरुजनों के पवित्र नाम को सर्वोपरि प्रसिद्ध करना चाहिए; क्योंकि पुत्र ही कुल का दीपक कहा जाता है। जिन पुत्रों ने अपने जाति, कुल, धर्म, देश व पितादि गुरुजनों के नाम का लोप कर दिया, यथार्थ में वे पुत्र उस कुल के कलंक हैं, इसलिए हे स्वामी! यहाँ से चतुरंग सैन्य साथ लेकर आप अपने देश को चलिए और चिन्ता मेटकर सानन्द स्वराज्य भोगिये।

अहा! धन्य है मैनासुन्दरी को कि जिसने पति के सद्विचार में अपने विचार मिला दिये। यथार्थ में वे ही स्त्रियाँ सराहनीय हैं, जो पति की अनुगामिनी हों। अन्यथा जो स्त्रियाँ स्वामी की आज्ञा के प्रतिकूल हैं, वे केवल बेड़ी की तरह से दु:खरूप भयानक बन्धन हैं। कहा है-

पति आज्ञा अनुसार जो, चले धन्य वह नारि।
अरु पति विमुखा जो त्रियां, जैसे तीक्ष्ण कुठारि।।

अपनी प्रिया के ऐसे वचन सुनकर श्रीपाल बोले - चन्द्रवदने! आपने कहा सो ठीक है; परन्तु क्षत्रिय कभी किसी के सामने हाथ नीचा (याचना) नहीं करते। क्योंकि कहा है -

करपर कर निशिदिन करें, करतल कर न करेय।
जा दिन करतल कर करें, ता दिन मरण गिनेय।।

इसलिए प्रथम तो माँगना ही बुरा है और कदाचित् यह भी कोई करे तो ऐसा कौन होगा जो अपने हाथ में आया हुआ राज्य दूसरों को देकर आप स्वयं पराश्रित हो जीवन व्यतीत करेगा? संसार में कनक और कामनी कोई भी किसी को खुशी-खुशी नहीं सौंप देता। और यदि ऐसा भी हो तो मेरा पराक्रम किस तरह प्रगट होगा? यथार्थ में अपने बाहुबल से प्राप्त किया हुआ ही राज्य सुखदायक होता है। दूसरे, जहाँ तक अपनी शक्ति से काम नहीं लिया अर्थात् अपने बल की परीक्षा कर उसका निश्चय नहीं कर लिया, वहाँ तक राज्य किस आधार पर चल सकता है?

तीसरे, शक्ति को काम में न लाने से कायरता भी बढ़ जाती है। **पान सड़े घोड़ा अड़े, विद्या बिसर जाय। बाटी जले अंगार पर किस कारण यह थाय?** उत्तर फेरा नहीं। तात्पर्य – विद्या अभ्यासकारिणी होती है। इसलिए पुरुष को सदैव सावधान ही रहना उचित है। घर में आग लगने पर कुँआ खुदाना वृथा है। ऐसे ही शत्रु के आ जाने पर शक्ति की परीक्षा करना व्यर्थ है।

इसलिए हे प्रियतमे! मैं विदेश में जाकर निज बाहुबल से राज्यादि वैभव प्राप्त करूँगा। तुम आनन्द से अपनी सासू की सेवा माता के समान करना और नित्य प्रति श्री जिनदेव का पूजन, वन्दन, स्तवन दानादि षट्कर्मों में सावधान रहना व पंचाणुव्रत मन, वचन, काय से पालन करना और किसी प्रकार की चिन्ता न करना।

पति के ये वचन उस सती को यद्यपि दु:खदायक थे और वह स्वप्न में भी पति विरह सहन करने के लिये अत्यन्त कायर थी; परन्तु जब उसको यह निश्चय हो गया कि अब ये नहीं मानेंगे, और अवश्य ही विदेश जायेंगे तो फिर इस समय इनको छेड़ने से कुछ भी लाभ नहीं होगा, किन्तु यात्रा में विघ्न आवेगा, इसलिए छेड़ अनुचित है, ऐसा सोचकर उसने धीमे स्वर से कहा–

''प्राणधार! यद्यपि मैं आपका क्षणमात्र विरह करने को भी असमर्थ हूँ, तथापि आपकी आज्ञा मैं शिरोधार्य करती हूँ परन्तु यह तो बताइए कि इस अबला को पुन: आपके दर्शन कब तक मिलेंगे? जिसके सहारे व आशा पर चित्त को धैर्य देकर सन्तोषित किया जाये।''

तब श्रीपालजी ने कहा –'प्रिये! तुम धैर्य रखो, मैं बारह वर्ष पूर्ण होते ही, पीछे आकर तुमसे मिलूंगा। इसमें किंचित् भी अन्तर न समझना।' यह सुनकर मैनासुन्दरी ने कहा – ''हे नाथ! यद्यपि मैंने अपशकुन व आपका चित्त खेदित होने के भय से बिना आनाकानी किये ही आपका जाना स्वीकार कर लिया है और स्त्री का धर्म भी यही है कि पति की इच्छा प्रमाण प्रवर्ते; परन्तु संसार में मोह महा प्रबल है, इसलिए मेरा चित्त बारम्बार अधीर हो जाता है। अर्थात् आपके चरण कमल छोड़ने को जी नहीं चाहता।

इसलिए यदि आप इस दासी को भी सेवा के लिये ले चलें, तो बड़ा उपकार हो। कारण, बारह वर्ष क्या, दासी बारह पल भी विरह सहने को असमर्थ है।'' ऐसी नम्र प्रार्थना कर, स्वामी की ओर आशावती हो यह प्रतीक्षा करने लगी कि स्वामी या तो मुझे साथ ले चलेंगे या अपने जाने का विचार बन्द कर देंगे; परन्तु ऐसी आशा करना उसका निरर्थक था। क्योंकि बड़े पुरुष जो कुछ विचार करते हैं, वह पक्का ही करते हैं, और उसे पूरा करके ही छोड़ते हैं। कहा भी है–

यदि महंजन निज वचन, करें न जो निर्वाह।
तो उनमें अरु लघुन में, अंतर सूझे नांह।।

निज प्रिया को मोहातुर देख श्रीपाल बोले – प्रिये! तुम अधीर मत होओ, मैं अवश्य ही अपने कहे हुए समय पर आ जाऊँगा। संसार में जीवों का परम शत्रु यह मोह ही है। जिसने इसको जीता है, वे ही सच्चे सुखी हैं। और अधिक क्या कहा

जाए? निश्चय से यदि देखो कि दु:ख कोई वस्तु है, तो वह मोह के सिवाय और कुछ भी नहीं है। अर्थात् मोह ही दु:ख है। यही इष्टानिष्ट बुद्धि कराकर प्राणियों को नाना प्रकार के नाच नचाता है। इसलिए इसका परिहार करना ही उत्तम पुरुषों का काम है। सो चिन्ता न करो। मैं उद्यम के लिये जा रहा हूँ। उद्यम करना पुरुष का कर्तव्य है। उद्यमहीन पुरुष संसार में निन्द्य और दु:ख का पात्र होता है। उद्यम से ही नर सुर और क्रमश: मोक्ष का भी सुख प्राप्त करता है। जो उद्यम नहीं करते उनका जन्म संसार में व्यर्थ है। कहा है-

धर्मार्थकाममोक्षाणां, यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्यैव, तस्य जन्म निरर्थकम्।।

अर्थात् - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में से जिसने एक भी प्राप्त किया उसका जन्म बकरे के गले में लटकते हुए पयरहित स्तन के समान निरर्थक है। इसलिए मोह त्यागकर मुझे अनुमति दो।

तब वह सती कुछ धैर्य धारण करके बोली - स्वामिन्! मुझे भी ले चलो। तब श्रीपाल बोले - प्रिये! परदेश में बिना सहाय व बिना ठिकाने एकाएक स्त्री को ले जाना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम तो लोग अनेक प्रकार की आशंकाएँ करने लगेंगे, और जिन देशों से हम लोग सर्वथा अपरिचित हैं, वहाँ पर हमारा सहायी कौन? दूसरे जब कि मैं उद्यम के अर्थ ही विदेश जाता हूँ तो वहाँ स्त्री को संग रखकर उद्यम करना 'गधे के सींगवत्' असम्भव है। हाँ, तीर्थयात्रा इत्यादि में होता तो ठीक ही था।

पुरुष को चाहिए कि परदेश में जबतक भली-भाँति परिचय न हो जाये और उद्यम आदि निश्चित व स्थिर न हो जाए, तथा जहाँ पर स्वपक्ष न हो जाए, वहाँ वह स्त्रियादि को कभी साथ न ले जाए। किन्तु उन्हें अपने माता-पिता आदि बड़े जनों की रक्षा में छोड़ जाए अथवा उसके माता-पिता के घर (यदि अपने घर में कोई न हो तो) भेज दें। और पश्चात् उक्त बातों का निश्चय करके उसे बाल-बच्चों सहित ले जाए।

हाँ, यह बात जरूरी है कि समयानुसार खबर देते-लेते रहें। सो हे प्रिये! मैं तो शीघ्र ही आनेवाला हूँ। तू चिन्ता मत कर।

निदान मैनासुन्दरी उक्त सिखामन सुनकर बोली - ''स्वामिन्! यदि आप जाते हैं और दासी की विनती नहीं सुनते, तो जाइए, परन्तु एक प्रार्थना है कि इस दासी से दासत्व कराने का विचार और पंच परमेष्ठी का ध्यान स्वप्न में भी न भूलिये, क्योंकि वे ही पंच परमेष्ठी लोक में मंगलोत्तम और शरणाधार हैं। तथा सिद्धचक्र का आराधन भी सदैव कीजियेगा। अपनी माता व मित्रों को भी नहीं भुलाइयेगा। मिथ्या देव, गुरु और धर्म का विश्वास न कीजियेगा। ये ही जीव के प्रबल शत्रु हैं। जिनदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और अहिंसा धर्म ही तारनेवाले हैं। विशेष बता यह और है कि -

नारि जाति अति ही चपल, कीजो नहिं विश्वास।
जेठी मा तरुणी बहिन, लघु सुता गन तास।।

अर्थात् बड़ी को माता, बराबरवाली को बहिन और छोटी स्त्रियों को बेटी के समान समझियेगा। परदेश में नाना प्रकार के

ढोंगी, धूर्त, भेषी रहते हैं, इसलिए सोच विचारकर ही कार्य कीजियेगा।

स्वामिन्! मैं अज्ञानी हूँ, ढीठ होकर आपके सन्मुख यह वचन कहती हूँ, नहीं तो भला मेरी क्या शक्ति जो आपको समझा सकूँ? क्षमा कीजिये। एक बात यह और कहे देती हूँ कि यदि अपनी प्रतिज्ञा पर बारह वर्ष पूण होते ही आप न आए तो मैं दूसरे दिन ही प्रात:काल जिनेश्वरी दीक्षा लेकर इस संसार के जाल को तोड़ अविनाशी सुख के लिये इस पराधीन पर्याय से टूटने के उपाय में लग जाऊँगी। अर्थात् जिनदीक्षा आर्यिका के व्रत ग्रहण कर लूँगी।''

तब श्रीपालजी ने कहा - 'प्रिये! बार-बार कहने से क्या? जो मेरा वचन है, उसे मैं अवश्य ही पालन करूँगा, इसके लिये सिद्धचक्र की साक्षी देता हूँ।' ऐसा कहकर ज्यों ही श्रीपालजी चलने लगे, त्यों ही वह पुन: मोहवश स्वामी का पल्ला (चद्दर खूंट) पकड़कर व्याकुल हो कहने लगी-

हे नाथ! मैं तो जानती थी कि आप अब तक केवल विनोद ही कर रहे हैं परन्तु आप तो अब हँसी को सच्ची करने लगे। क्या आप सचमुच ही चले जावेंगे? भला, यह अबला किस प्रकार कालक्षेप करेगी? कृपा करो दासी को अभय वचन दो, मैं आपके दर्शन की प्यासी हूँ। आपके बिना मुझे यह सब सामग्री दु:खदायी है। यद्यपि मैनासुन्दरी सब जानती थी, परन्तु पति-प्रेम ऐसा ही होता है।

जब श्रीपालजी ने देखा कि त्रिया हठ पकड़ रही है, और

इससे कार्य में विघ्न होने की सम्भावना है, तब ऊपरी मन से कुछ क्रोध करके बोले-

'स्त्रियों का स्वभाव ऐसा ही होता है कि वे हजार शिक्षा देने पर भी अपनी चाल नहीं छोड़तीं, न कार्याकार्य ही विचार करती हैं। बस, छोड़ दे मुझे!'

यह सुन नेत्र भरकर कांपते-कांपते मैनासुन्दरी ने पल्ला छोड़ दिया, और नीची दृष्टि कर स्वामी के चरणों की ओर देखने लगी। ठीक है, इसके सिवाय वह और कह ही क्या सकती थी? श्रीपालजी को उसकी ऐसी दीन दशा देखकर दया आ गयी। ठीक है, दीन को देखकर किसे दया न होगी? पाषाण हृदय भी पिघल जाएगा, जिसमें भी फिर अबलाओं का दीन होना तो पुरुषों को और भी विह्वल बना देता है।

यद्यपि श्रीपाल को दया आ गयी थी, परन्तु पुरुषार्थ का दूत पीछे लग रहा था। इसलिए वे किसी प्रकार अपने विचार को बदल नहीं सके। किन्तु अपने विचार पर दृढ़ बने रहकर दयार्द्र स्वर से बोले-

प्रिये! चिन्ता न करो। तुम यथार्थ में सती शीलवती साध्वी हो। तुम्हारा रुदन करना, मेरे चित्त को व्याकुल कर रहा है जो कि मेरी यात्रा में विघ्न करनेवाला है, इसलिए मेरे मुँह से ये कठोर शब्द निकल गये हैं। तुम ऐसा कभी अपने मन में नहीं विचारना कि तुमसे मेरा प्रेम किसी प्रकार कम हो गया है, किन्तु जिस प्रकार तुम मेरे जाने से दु:खित हो, मैं भी तुम्हें छोड़ने में उससे किसी प्रकार कम दु:खी नहीं हूँ।

कहन सुनन की बात नहिं, लिखी पढ़ी नहिं जात।
अपने जिय से जानियो, हमरे जिय की बात।।

परन्तु इस समय मुझे एक बार जाना ही उचित है। तुम हठ न करो और हर्षित होकर मुझे जाने के लिये अनुमति दो। निदान मैनासुन्दरी ने हाथ जोड़ नमस्कार कर पति के चरणों में मस्तक रख दिया। इस प्रकार श्रीपाल स्त्री को समझाकर डरते-डरते माता के पास आज्ञा लेने को गये। मन में सोचते जाते थे कि क्या जाने माता आज्ञा देंगी या नहीं? यहाँ से तो किसी प्रकार निबटारा हो गया है।

इस प्रकार सोचते-सोचते जाकर माता के चरणों में मस्तक झुका दिया, दोनों हाथों की अंगुली जोड़कर दीन हो खड़े हो गये। माता पुत्र का बिना समय आगमन देखकर चिन्तावती होकर बोली-

हे पुत्र! इस समय ऐसी आतुरता से तेरे आने का कारण क्या है? तब श्रीपाल ने अपने मन का सब वृत्तान्त कहकर विदेश जाने की आज्ञा माँगी। सुनते ही माता अत्यन्त दु:खित होकर कहने लगी - हे पुत्र! एक तो पूर्व असाता कर्मों ने पहिले ही तुम से वियोग कराया था, सो जैसे-तैसे बड़े कष्ट से बहुत दिनों में तुमसे मिलकर अपने हृदय की दाह शान्त की थी, परन्तु क्या अब भी निर्दयी कर्म न देख सका जो पुन: पुत्र से विछोह कराना चाहता है! हे पुत्र! तुझे यह कैसी बुद्धि उत्पन्न हुई है? हे बेटा! अभी तो मैं तुझे देखकर तेरे पिता के वियोग के दु:ख को भूली हुई हूँ, सो तेरे बिना मैं कैसे दिन व्यतीत करूँगी?

माता के ऐसे वचन सुनकर श्रीपाल बड़ी नम्रता से बोले – हे माता! मुझे इस समय जाना ही उचित है क्योंकि यहाँ रहने से यद्यपि मुझे कोई दुःख नहीं है, परन्तु मैं राजजँवाई कहकर बुलाया जाता हूँ, और मेरे पिता का, कुल का व देश का नाम कोई नहीं लेता है, इसी से मेरा चित्त व्याकुल है।

क्योंकि जिस पुत्र से पितादि, गुरुजनों, कुल व देश का नाम न चले, वह पुत्र नहीं, किन्तु कुल का कलंक है। उनका जन्म ही होना, न होने के समान है। इसलिए माताजी! मुझे सहर्ष आज्ञा व आशीष दीजिये जिससे मेरी यात्रा सफल हो। मैं शीघ्र ही (१२ वर्ष में) लौटकर सेवा में उपस्थित होऊँगा। आप श्री जिनेन्द्र का ध्यान कीजिये। और आपकी वधू (मैनासुन्दरी) आपकी सेवा में रहेगी ही तथा सात सौ आज्ञाकारी सुभट भी आपकी शरण में उपस्थित रहेंगे।

माता कुन्दप्रभा पुत्र का अभिप्राय जान गयी, उसे निश्चय हो गया कि अब पुत्र जाने से न रुकेगा, इसलिए हठ करके रखना ठीक नहीं है और वह कोई बुरे अभिप्राय से तो जा नहीं रहा है इत्यादि, तब वह अपने मन को दृढ़कर बोली –

प्रिय पुत्र! तुझे जाने की आज्ञा देते हुए मेरा जी निकलता है, परन्तु अब मैं तुझे रोकना भी नहीं चाहती। इसलिए यदि जाते ही हो तो जाओ, और सहर्ष जाओ। श्री जिनेन्द्रदेव, गुरु और धर्म के प्रभाव से तुम्हारी यात्रा सफल होवे। परन्तु हे पुत्र! विदेश का काम है, बहुत होशियारी से रहना। पर-धन और पर-त्रिया

पर दृष्टि न डालना। सब जीवों को आप समान जानना। कहा है-

मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः जानाति स पंडितः।।

तथा झूठे व दम्भी (छली) लोगों का साथ कभी नहीं करना, किसी को भूलकर भी कुवचन नहीं कहना, मद्यपायी, मांस भक्षक लोगों के निकट न रहना, न उनसे व्यवहार करना, जुआ (द्यूत) कभी नहीं खेलना, पानी (नदी), ठग, कोतवाल, कृपण, हठी, स्त्री, हथियार, अन्ध पुरुष, नखी पशु, शृंगवाले पशु, वेश्या, रोगी, ऋणी, बंधुवा (कैदी), शत्रु, ज्वारी, चोर, असत्यभाषी आदि किसी का विश्वास नहीं करना, क्योंकि इनकी प्रीति गुड़ लपेटी छुरी की तरह घातक है।

नक्खी, लक्खी, जटाधारी, मुड़े हुए भस्मधारी, भेषी व वनचर, कुब्जक, बौना (बामन), काना केरा (कंजा नेत्रवाला), छोटी गर्दनवाला आदमी, डांकनी, शांकनी, दासी कुट्टनी (दूती) इनका भी विश्वास न करना। स्व-स्त्री सिवाय अन्य स्त्रियाँ माता, बहिन, बेटी के समान जानना। अतिद्रव्य व ऐश्वर्य हो जाने पर भी अहंकार नहीं करना, निरन्तर पंच परमेष्ठी का ध्यान हृदय में रखना। भूलकर भी सिवाय जिनेन्द्रदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामय जिनवर कथित धर्म के अन्य कुदेव, कुधर्म व कुगुरु की सेवा नहीं करना और सिद्धचक्र व्रत का मन-वचन-काय से पालन करते रहना। हे पुत्र! मेरे वचन दृढ़कर पालना, भूलना नहीं। ऐसा कहकर माता ने आशीर्वाद दिया-

श्री बढ़े अरु अतुल बल, बढ़े धर्म से नेह।
चव रंग दल को संग ले, आवो सुत निज गेह।।
धन्य महूरत धन घड़ी, धन्य सुवासर सोय।
जा दिन बहुरि कुशलसहित, नैनन देखूं तोय।।

ऐसे शुभ वचन कहकर माता श्रीपाल के मस्तक पर दही-दूध और अक्षत डालती हुई और मस्तक में मंगलिक कुमकुम का तिलक करके श्रीफल दिया, तथा निछावर की। धाय ने भी आकर शुभ मूकी दी, सो श्रीपाल ने हर्षित होकर ली। फिर सर्व स्वजनों ने सहर्ष आज्ञा दी। इस प्रकार उसी रात्रि के पिछले पहर में श्रीपालजी ने सर्व उपस्थित जनों को यथायोग्य धैर्य देकर पंच परमेष्ठी का उच्चारण करते हुए, हर्षित हो, उत्साहसहित प्रयाण किया और सब स्वजन श्रीपाल को विदाकर निज स्थान को पधारे।

●●●

विद्याओं की सिद्धि

श्रीपालजी घर से प्रस्थान कर अपने साथ चन्द्रहास खड़ग और चमर आदि सम्पूर्ण आयुध साथ लिये हुए अति शीघ्रता से अनेक वन, पर्वत, गुफा, सरोवर, खाई, नदी, पुर, पट्टनादि का उल्लंघन करते हुए पांव प्यादे चलते-चलते वत्सनगर में आये और नगर की शोभा देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए क्योंकि उस नगर में नाना प्रकार के चित्रों से चित्रित बड़े-बड़े उत्तंग महल यथाक्रम से बने हुए थे। द्वार पर सुवर्ण कलश स्थापित थे।

नगर में चतुर्वर्ण के नर-नारी अपने-अपने योग्य स्थानों में निवास करते थे। बाग-बगीचों से नगर सुसज्जित हो रहा था। उसी नगर के निकट नन्दन वन के समान एक महा रमणीक उपवन दिखाई पड़ा। सो श्रीपालजी ने उसकी स्वाभाविक सुन्दरता देखने की इच्छा से उसमें प्रवेश किया। उस स्थान की शोभा को देखते और मन्द सुगन्ध पवन से चित्त को प्रसन्न करते हुए जब वे वहाँ फिर रहे थे कि जिन्होंने उसी (चंपक) वन में एक वृक्ष के नीचे किसी वीर पुरुष को वस्त्राभूषण से अलंकृत, क्षीण शरीर और क्लेशयुक्त होकर मन्त्र जपते हुए देखा।

वे उसे देखकर सोचने लगे कि इतना क्लेश उठाने पर भी मालूम होता है कि इसे मन्त्र सिद्ध नहीं हुआ है। कदाचित् इसी से इसका चित्त उदास हो गया होगा। तब श्रीपाल ने उसके निकट जाकर पूछा-

'हे मित्र! तुम कौन से मन्त्र की आराधना कर रहे हो कि जिससे तुम्हारे चित्त की एकाग्रता नहीं होती है?'

यह वचन सुनकर वह वीर चौंक उठा और इनका रूप देखकर हर्षित हो बहुत आदरपूर्वक विनयसहित बोला – 'हे पथिक! मुझे मेरे गुरु ने विद्या का मन्त्र दिया था; सो मैं उसी का जाप कर रहा हूँ। परन्तु मेरा चंचल चित्त स्थिर नहीं रहता है और इससे मन्त्र भी सिद्ध नहीं होता है। इसलिए तुम इस विद्या का साधन करो। क्योंकि तुम सहनशील मालूम होते हो, सो कदाचित् तुम्हें यह सिद्ध हो जाये।' तब श्रीपालजी बोले–

'भाई! आपका कहना ठीक है, परन्तु सोना रत्न के साथ ही शोभा देता है, साधु क्षमा से शोभा देता है, जिनेन्द्र का स्तवन प्रात:काल ध्यानपूर्वक ही शोभा देता है, राजा सैन्यसहित ही सोहता है, श्रावक दया से ही सोहता है, बालक खेलते हुए सोहता है, स्त्री शील होने से शोभा देती है, पण्डित शास्त्र पढ़ते हुए ही शोभा देते हैं, द्रव्य दान से शोभा पाता है, सरोवर कमल से शोभता है, शूर युद्ध में शोभा देता है, हाथी सैन्य में शोभता है, वृक्ष ठंडी और सघन छाया से सोहता है, दूत कठिन वचनों से, कुल सुपुत्र से, धीर परोपकार से, शरीर निर्भयता से और तन्त्र साधन स्थिर चित्तवालों को ही शोभा देता है। इसलिए हे भाई! मैं तो पथिक (रास्तागीर) हूँ, मुझे स्थिरता कहाँ? और मन्त्रसिद्धि कैसी?'

यह सुनकर वह वीर बोला – 'हे कुमार! आपका तेजस्वी

मुखारविन्द ही बता रहा है कि आप इसके योग्य हैं। इसलिए मुझे अभय वचन दो। आप मेरे ही भाग्य से यहाँ आये हो। इसलिए अब आप अविलम्ब स्वस्थ चित्त होकर इस मन्त्र का आराधन करो। आपको श्रीगुरु की कृपा से यह विद्या सहज ही सिद्ध हो जायेगी। ऐसा कहकर वह मन्त्र और विधि जैसा उसके गुरु ने बतलाया था, उसने श्रीपाल को बतला दी।

तब श्रीपालजी उसके बारम्बार कहने व आग्रह करने से मन-वचन-काय से चंचलता को छोड़कर शुद्धतापूर्वक निश्चय आसन लगाकर मन्त्र जपने के लिये बैठ गये, जिससे एकाग्र चित्त होने के कारण उनको एक दिन में ही वह विद्या सिद्ध हो गयी। तब सफलता प्राप्त हुई देखकर वह वीर उठा और श्रीपाल को प्रणाम और स्तुति करके कहने लगा कि धन्य है आपके साहस और धीरता को! यह विद्या अब अपने पास रखिये और मुझे कृपाकर आज्ञा दीजिये कि मैं अपने घर जाऊँ।

तब श्रीपालजी बोले - भाई! यह उचित नहीं है कि रास्ता चलते किसी की वस्तु छीन लूँ। पराये पुत्र से स्त्री पुत्रवती नहीं कहलाती है, पराये धन से कोई धनी नहीं होता, त्यों ही पराई विद्या और बल से बली होना नहीं समझना चाहिए और फिर मैंने किया ही क्या है? केवल आपके कहने से अपनी शक्ति की परीक्षा की है। सो आप अपनी विद्या लीजिये। ऐसा कह वह विद्या उसी विद्याधर वीर को देकर आप अलग हो गये। तब विद्याधर ने स्तुति कर कहा 'भो स्वामिन्! यदि आप इसे नहीं स्वीकार करते तो ये जल-तारिणी व शत्रु-निवारिणी दो विद्याएँ

अवश्य ही भेंट स्वरूप स्वीकार कीजिये, और मुझ पर अनुग्रह कर मेरे गृह को अपने चरण कमलों से पवित्र कीजिये।

ऐसा कहकर उक्त दोनों जल-तारिणी और शुत्र निवारिणी विद्याएँ देकर बड़े आदरसहित वह श्रीपालजी को स्व-स्थान पर ले गया, और कुछ दिन तक अपने यहाँ रख उनकी बहुत शुश्रूषा की। पश्चात् उनकी इच्छानुसार विदाकर आप सानन्द आयु व्यतीत करने लगा। इस प्रकार श्रीपालजी ने घर से निकलकर वत्सनगर के विद्याधर को अपना सेवक बनाया और उससे उक्त दो विद्याएं भेंट स्वरूप ग्रहण कर आगे को प्रस्थान किया। ठीक है-

स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।

अर्थात्- 'गुण का आदर ठोर सब, राजा का निज देश' तात्पर्य-प्रत्येक पुरुष को गुणवान् होने का प्रयत्न करना चाहिए, न कि द्रव्यमान होने का; क्योंकि गुणवान के आश्रय ही द्रव्य रहता है; इसलिए गुणवान होना ही श्रेयस्कर है।

●●●

धवलसेठ का वर्णन

श्रीपालजी विद्याधर से जल-तारिणी और शत्रु-निवारिणी दो विद्याएँ ग्रहण कर वत्सनगर से निकल कर और अनेक वन-उपवनों की शोभा देखते हुए भृगुकच्छपुर (भडोंच) आये। वहाँ नगर की शोभा देखकर चित्त में प्रसन्न हुए। क्योंकि यह नगर समुद्र के तुल्य नर्मदा नदी के किनारे होने से अतिशय रमणीक भासता था। श्रीपाल घूमते-घूमते उस नगर से किसी उपवन में

जा पहुँचे और वहाँ पास ही एक टेकड़ी पर श्री जिनभवन देखकर अति आनन्दित हुए और प्रभु-भक्ति वन्दना कर अपना जन्म धन्य माना। इस प्रकार वे सिद्धचक्र का आराधन करते हुए कुछ काल तक उसी नगर में रहे।

एक दिन कौशांबी नगर का एक धनिक व्यापारी (धवल श्रेष्ठी) व्यापार के निमित्त देशांतर को जाने के लिये पाँच सौ जहाज भरकर इसी नगर के समीप आया। पवन के योग से उसके जहाज पास की एक खाड़ी में जा पड़े। उस सेठ के साथ जितने आदमी थे, उन सबने मिलकर अपनी शक्तिभर उपाय किया; परन्तु वे जहाज न चला सके, तब सेठ को बड़ी चिन्ता हुई, उसका शरीर शिथिल हो गया।

निदान वह उदास होकर सोचते-सोचते जब कुछ उपाय न बन पड़ा, तब लाचार हो नगर में आया और किसी नगर निवासी निमित्तज्ञानी से अपना सब वृत्तान्त कहकर जहाज के अटक जाने का कारण पूछा। तब उस नगर निवासी निमित्तज्ञानी (ज्योतिषी) ने कहा हे सेठ! आपके अशुभ कर्म के उदय से ये जहाज अटक गये हैं। उनको जल-देवों ने कील दिया है, सो या तो कोई महागुणवान, लक्षणवन्त, गम्भीर पुरुष, जो निर्मल हो, वह आकर इन जहाजों को चलावेगा, तो चलेंगे, अथवा यहाँ पर एक ऐसे ही महापुरुष का बलिदान करना होगा। यह सुनकर सेठ अपने डेरे में आया और मन्त्रियों से मन्त्रणा करके उस नगर के राजा के समीप गया और बहुमूल्य भेंट देकर राजा को प्रसन्न

किया और मौका पाकर अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त कह राजा से एक आदमी के बलि देने की आज्ञा प्राप्त कर ली। तुरन्त ही ऐसा मनुष्य जो अकेला गुणवान् और निर्भय हो, उसे ढूँढने के लिये चारों ओर आदमी भेजे। सो नौकर फिरते-फिरते उसी बगीचे में, जहाँ कि श्रीपालजी एक वृक्ष के नीचे शीतल छाया में सो रहे थे, पहुँचे।

उनको देखकर वे विचारने लगे कि हमें जैसा पुरुष चाहिए था, यह ठीक वैसा ही मिल गया है। बस, अपना काम बन गया। परन्तु उन्हें जगाने को किसी की भी हिम्मत नहीं पड़ती थी। सब लोग परस्पर एक-दूसरे को जगाने के लिये प्रेरित कर रहे थे कि इतने में श्रीपालजी की नींद अपने आप ही खुल गयी। इन्होंने आँखें खुलते ही अपने आपको चारों ओर से घिरा हुआ देखा, तब वे नि:शंक होकर बोले-

'तुम लोग कौन हो? और मेरे पास किसलिए आये हो?' यह सुनकर वे नौकर बोले - 'हे स्वामिन्! कौशांबी नगरी का एक धनिक व्यापारी, जिसका नाम धवल सेठ है, व्यापार निमित्त पाँच सौ जहाज लेकर विदेश जा रहा था, यहाँ किसी कारण से उसके जहाज खाड़ी में अटक गये हैं, सो उसने मन्त्रियों से मन्त्रणा करके विवेकरहित हो, जहाज चलाने के लिए एक आदमी को बलि देना निश्चय कर हमको मनुष्य की तलाश में भेजा है।

अभी तक ऐसा मनुष्य हमको कोई मिला नहीं है, और सेठ का डर भी बहुत लगता है कि खाली जायेंगे तो वह हमें मार

डालेगा, और नहीं जावेंगे तो हमको ढूँढकर अधिक कष्ट देवेगा। इसलिए अब आपका शरण है, किसी तरह बचाइये।'

यह सुनकर श्रीपाल बोले - 'भाइयो! तुम भय मत करो। तुम कहो तो क्षणभर में करोड़ों वीरों का मर्दन कर डालूँ और कहो तो वहाँ चलकर सेठ का काम कर दूँ।'

तब वे आदमी स्तुति करके गद्‌गद् वचनों से बोले -

'स्वामिन्! यदि आप वहाँ पधारेंगे तो अतीव कृपा होगी और हम लोगों के प्राण भी बचेंगे और आपका यश बहुत फैलेगा, आप धीर-वीर हो, आपके प्रसाद से सब काम हो जायेगा।' यह सुनकर श्रीपालजी तुरन्त ही यह विचार कर कि देखें अदृष्ट क्या है? क्या-क्या कौतुक होता है? चलकर परीक्षा करूँ? यह विचार करके उन लोगों के साथ चलकर शीघ्र ही धवल सेठ के पास पहुँचे।

वे लोग सेठ से हाथ जोड़कर बोले - 'हे सेठ! आप जैसा पुरुष चाहते थे, सो यह ठीक वैसा ही लक्षणवन्त है। अब आपका कार्य नि:सन्देह हो जायेगा। यह सुनकर उस लोभान्ध सेठ ने बिना ही कुछ सोचे और बिना पूछे कि तुम कौन हो? कहाँ से आये हो? श्रीपाल को बुलाकर उबटन कराकर स्नान करवाया, इत्र फुलेल चन्दनादि लगाकर उत्तम-उत्तम वस्त्राभूषण पहनाये और बड़े बाजे-गाजे सहित उस स्थान पर जहाँ जहाज अटक रहे थे, ले गये।

जब वहाँ शूरवीरों ने इनके मस्तक पर चलाने के लिये

खड्ग उठाया; तब श्रीपालजी कौतुक से मन में यह विचारते हुए कि अब इन सबका काल निकट आया है। इसलिए वे बोले-

'अरे सेठ! तुझे यहाँ जीव वध करने से मतलब है या कि अपने जहाजों को चलाने से?'

सेठ ने उत्तर दिया - 'हमको जहाज चलाना है यदि तू चला देवेगा, तो तुझे फिर कोई कष्ट देनेवाला नहीं है।'

तब श्रीपालजी बोले - ''अरे मूर्ख! तू लोभवश यहाँ नरबलि देने को तैयार हो गया, और दया-धर्म को बिलकुल जलांजुलि दे दी। ठीक है - 'अर्थी दोष न पश्यति' कहा भी है-

लोभ बुरो संसार में, सुध बुध सब हर लेय।
बाप वखानो पाप को, शुभ्र पयानो देय।।

क्या तू यह जानता था कि मैं यहाँ तेरी इच्छा अनुसार बलि हो जाऊँगा। बता तो तेरे पास कितने शूरवीर हैं? उन सबको एक ही बार में चूरचूर कर डालूँगा। देखूं कौन साहस कर मेरे सामने बलि देने को आता है? कायरों! आओ! शीघ्र ही आओ! देर मत करो! और मेरे पुरुषार्थ को देखो! दुष्टों! तुमको कुछ भी लज्जा, भय और विवेक नहीं, जो केवल लोभ के वश होकर अनर्थ करने पर कमर बाँध ली है। आओ, मैं देखता हूँ कि तुमने अपनी-अपनी माताओं का कितना दूध पिया है? श्रीपालजी के ऐसे साहसयुक्त निर्भय वचन सुनकर धवल सेठ और उसके सब आदमी मारे भय के कांपने लगे, और विनयसहित बोले-

''स्वामिन! हम लोग अविवेकी हैं। आपका पुरुषार्थ बिना

जाने ही हमने यह खोटा साहस किया था। आप दयालु, साहसी, न्यायी और महान् गुणवान् हैं। आपकी बड़ाई कहाँ तक करें? क्षमा करो, प्रसन्न होओ और हम लोगों का संकट दूर करो।

इस प्रकार अनुपम विनययुक्त वचनों से श्रीपालजी को दया आ गयी। इसलिए उन्होंने आज्ञा दी-अच्छा, तुम लोग अपने जहाजों को शीघ्र ही तैयार करो।''

तुरन्त ही सब जहाज तैयार किये गये। जहाजों को तैयार देखकर श्रीपालजी ने पंच परमेष्ठी का जाप करके सिद्धचक्र का आराधन किया। और ज्यों ही उनको ढकेला कि वे सब जहाज चलने लगे। सब ओर जय जयकार शब्द होने लगा, खुशी मनाई जाने लगी, बाजे बजने लगे। सब लोग श्रीपालजी के साहस, रूप, बल व पुरुषार्थ की प्रशंसा करने लगे और सबने उनको अपने साथ ले जाने का विचार करके विनय की, कि यदि आप हम लोगों पर अनुग्रह कर साथ चलें तो हमारी यह यात्रा सफल हो।

तब श्रीपालजी ने कहा - ''सेठजी! यदि आप अपनी कमाई का दसवाँ भाग मुझे देना स्वीकार करें तो नि:संशय मैं आपके साथ चलूँ'' सेठ ने यह बात स्वीकार की और श्रीपालजी ने धवलसेठ के साथ प्रस्थान किया।

●●●

धवल सेठ को चोरों से छुड़ाना

समुद्र में जबकि धवल सेठ के जहाज चले जा रहे थे और सब लोग अपने-अपने राग में लवलीन थे अर्थात् कोई श्रीजी की आराधना करते थे, कोई नाचरंग में रंजित थे, कोई समुद्र को देखकर उसकी लहरों से भयभीत हो कायर से हो रहे थे कि उसी समय मरजिया (जहाज के सिरे पर बैठकर दूर तक देखनेवाला) एकदम चिल्ला उठा - शूरवीरों! होशियार हो जाओ। अब असावधानी का समय नहीं है। देखो, सामने से एक बड़ा भारी डाकुओं का दल आ रहा है। उनमें बड़े-बड़े वीर लोग दृष्टिगोचर होते हैं जो कि हथियारबन्द हैं।

उसके ऐसा कहते-कहते ही जहाज में एकदम खलबली मच गयी। समस्त लोग हथियार लेकर सामने आ गये और कायर भयभीत होकर यहाँ-वहाँ छुपने लगे। देखते ही देखते लुटेरों का दल निकट आ गया और उन्होंने आकर सेठ के शूरों को ललकारा।

अरे मुसाफिरों! ठहरो, कहाँ जाते हो? अब तुम्हारा निकल जाना सहज नहीं है। या तो हमारा साथ स्वीकार करो या अपनी सब सम्पत्ति हमें सौंपकर मार्ग लो, अन्यथा तुम्हारा यहाँ से जाना नहीं हो सकता। यदि तुममें कोई साहसी है तो सामने आ जावे। फिर देखो, कैसा चमत्कार दिखाई पड़ता है। सेठ के शूरवीर उन डाकुओं की ललकार सह न सके, तुरन्त ही टिड्डी के समान टूट पड़े, और दोनों में घमासान युद्ध होने लगा। बहुत से डाकू मारे गये, और कई पकड़े भी गये, जिससे वे भाग पड़े और सेठ

के दल में आनन्द ध्वनि होने लगी, परन्तु इतने ही से इस आपत्ति का अन्त नहीं हुआ। वे डाकू लोग कुछ दूर तक जाकर पुनः इकट्ठे हुए और स्वस्थचित्त हो परस्पर सलाह कर यह निश्चय किया कि एक बार फिर धावा करना चाहिए।

बस, उन लोगों ने पुनः आकर रंग में भंग डाल दी और मूर्ख सिंह की तरह सेठ के जहाजों पर टूट पड़े। इस समय डाकुओं की बाजी रह गयी और वे लोग बात की बात में धवल सेठ को जीता ही बाँधकर ले गये। यह देख सेठ की सारी सेना में कोलाहल मच गया। यहाँ तक तो श्रीपालजी चुपचाप बैठे हुए यह सब कौतुक देख रहे थे, सो ठीक है, क्योंकि धीरवीर पुरुष छोटी-छोटी बातों पर ध्यान नहीं देते हैं, क्षुद्र पुरुषों पर उनको क्रोध नहीं होता है, चाहे कोई इस तरह का कितना ही उपद्रव क्यों न करे।

जैसे हाथी के ऊपर बहुत-सी मक्खियाँ भिनभिनाया करती हैं, परन्तु उसे कुछ नुकसान नहीं पहुँचा सकती हैं, ऐसा समझकर हाथी उनकी कुछ भी परवाह नहीं करता। क्योंकि वह जानता है कि मेरे केवल कान के हिला देने से ही ये सब दिशा-विदिशाओं की शरण लेने लगेंगी-भाग जावेंगी; वैसे ही धीरवीरों को अपने बल का भरोसा रहता है। कहा भी है-

गीदड़ आये गोद, सिंह नहि हाथ पसारे।
महामत्त गजराज, देखकर कुम्भ बिदारे।।
तैसे ही सामन्त, लड़े नहिं कायर जन से।
देख चली परचन्ड, भगे नहिं कबहूँ रण से।।

प्रबल शत्रुमद परिहरें, तो लघु की क्या बात।
कै जूझे रण के विषे, कै वन कर्म खिपात।।

अन्तत: सेठ को बाँधकर ले जाते हुए देखकर श्रीपाल से रहा न गया, इसलिए वे तुरन्त उठ खड़े हुए। तब इन्हें उठा देख सेठ के आदमी रुदन करते हुए आये और करुणाजनक स्वर से बोले-

स्वामिन! बचाओ। देखो, सेठ को डाकू बाँधे लिये जा रहे हैं। श्रीपाल उनकी दीन-वाणी सुनकर और उन डाकुओं की निष्ठुरता को देखकर बोले-

''अरे वीरों! धैर्य रक्खो! चिन्ता न करो! मैं देखता हूँ चारों में कितना बल है! अभी बात की बात में सेठ को छुड़ाकर लाता हूँ। श्रीपालजी के वचनों से सबको सन्तोष हुआ और श्रीपाल ने तुरन्त ही शस्त्र धारणकर चोरों को सामने जाकर ललकारा-

अरे नीचों! क्या तुम मेरे सामने सेठ को ले जा सकते हो? कायरों! खड़े रहो और सेठ को छोड़कर अपनी क्षमा कराओ, नहीं तो अब तुम्हारा अन्त ही आया जानो! श्रीपाल की यह सिंह-गर्जना सुनने मात्र से ही डाकू लोग मृगदल के समान तितर-बितर हो गये, और किसी प्रकार अपना बचाव न देखकर थरथर कांपने लगे। यह सोचकर कि यदि मरना होगा तो इन्हीं के हाथ मरेंगे, अब तो इनका शरण लेना ही श्रेष्ठ है। यदि इन्हें दया आ गयी तो बच भी जावेंगे, नहीं तो ये एक-एक को पकड़-

पकड़ कर समुद्र में डुबोकर नाम नि:शेष कर देंगे। यह सोचकर डाकू लोग श्रीपाल की शरण में आये और सेठ का बन्धन छोड़कर नतमस्तक होकर बोले-

''स्वामिन्! हम लोग अब आपकी शरण हैं, जो चाहें सो कीजिये!'' तब श्रीपाल ने धवलसेठ से पूछा-''तात! इन लोगों के लिये क्या आज्ञा है?'' धवलसेठ तो क्रूर-चित्त व अविचारी था, बोला-इन सबको बहुत कष्ट देकर मारना चाहिए। तब श्रीपाल उसके कठोर वचन सुनकर बोले - ''तात! उत्तम पुरुषों का कोप क्षणमात्र का होता है और शरण में आये हुए को तो कोई नहीं मारता। दया मनुष्यों का प्रधान भूषण है। दया के बिना जप, तप, शील, संयम, योग, आचरण सब झूठे हैं, केवल कायक्लेश मात्र हैं। इसलिए दया कभी नहीं छोड़ना चाहिए। और फिर जब हम सरीखे पुरुष आपके साथ हैं तो आपको चिन्ता ही किस बात की है?

तब लज्जित होकर उस सेठ ने कहा-हे कुमार! आपकी इच्छा हो सो करो, मुझे उसी में सन्तोष है। तब श्रीपालजी उन चोरों को लेकर अपने जहाज पर आये और सबके बन्धन छोड़कर बोले - वीरों! मुझे क्षमा करो! मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिया। आप यदि हमारे स्वामी को पकड़ कर न ले जाते तो यह समय न आता, इत्यादि। सबसे क्षमा कराकर सबको स्नान कराया, और वस्त्राभूषण पहिनाकर सबको मिष्टान्न भोजन कराया, तथा पान इलायची इत्र फुलेलादि द्रव्यों से भले प्रकार सम्मानित किया।

वे डाकू श्रीपालजी के इस बर्ताव से बड़े प्रसन्न हुए, सहस्र मुख से स्तुति करने लगे और अपना मस्तक श्रीपाल के चरणों में धरकर बोले-

''हे नाथ! हम पर कृपा करो! धन्य हो आप! आपका नाम चिरस्मरणीय रहेगा। इस तरह परस्पर मिलकर वे डाकू श्रीपाल से विदा होकर अपने घर गये और श्रीपाल तथा धवलसेठ आनन्द से मिलकर अपनी आगामी यात्रा का विचार कर प्रयाण करने को उद्यमी हुए।

●●●

डाकुओं की भेंट

वे डाकू लोग श्रीपाल से विदा होकर अपने स्थान पर गये और श्रीपाल के साहस व पराक्रम की प्रंशसा करने लगे कि धन्य है, उस वीर का बल कि जिसने बिना हथियार के इतने डाकू बाँध लिये और फिर सबको छोड़कर उनके साथ बड़ा भारी सलूक किया। इसलिए इसको इसके बदले अवश्य ही कुछ भेंट करना चाहिए। क्योंकि हम लोगों ने बहुत से डांके मारे, और अनेक पुरुष देखे हैं, परन्तु ऐसा महान पुरुष आज तक कहीं नहीं देखा है। इसने पूर्व जन्मों में अवश्य ही महान तप किया है, या सुपात्र को दान दिया है, इसी का यह फल है। ऐसा विचारकर वे लोग बहुत-सा द्रव्य सात जहाजों में भरकर श्रीपाल के निकट आये और विनयसहित भेंट करके विदा हो गये। ठीक है, पुण्य से क्या नहीं हो सकता है? कहा है-

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये, महार्णवे पर्वतमस्तके वा।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थलंवा, रक्ष्यंतिपुण्यानि पुराकृतानि।।

अर्थात् वन में, रण में, शत्रु के सन्मुख, जल में, अग्नि में, महासागर में, पर्वत की शिखा पर, सोते हुए, प्रमाद अवस्था में, अथवा विषम स्थल में पूर्व पुण्य ही सहायता करता है।

तात्पर्य यह है कि जीवों को सदैव अपने भाव उज्ज्वल रखना चाहिए, सदा सबका भला और परोपकार करना चाहिए। क्योंकि पुण्य के उदय से शत्रु भी मित्र और पाप से मित्र भी शत्रु हो जाते हैं।

●●●

रयनमंजूषा की प्राप्ति

इसी तरह श्रीपाल उन डाकुओं से रत्नों के सात जहाज भेंट लेकर और उनको अपना आज्ञाकारी बनाकर धवलसेठ के साथ-साथ रात-दिन प्रयाण करते हुए बड़े आनन्द और कुशलता से हंसद्वीप में पहुँचे। यह द्वीप वन उपवनों में सुशोभित था। इसमें बड़ी-बड़ी अठारह और छोटी-छोटी रत्नों की अनेक खानें थीं। गजमोती बहुतायत से मिलते थे। सोने-चाँदी की भी बहुत-सी खानें थीं। केशर के बाग अतिशोभा दे रहे थे। कस्तूरी की सुगन्ध भी मस्तक को तहस-नहस किये देती थी। तात्पय यह है कि द्वीप अत्यन्त शोभायमान था। ऐसी वस्तु कदाचित् ही कोई होगी, जो वहाँ पैदा न होती हो। वहाँ पर रहनेवाले मनुष्य प्राय: सभी धन, कण कंचन से भरपूर थे। दु:खी, दरिद्री दृष्टिगोचर

नहीं होते थे। नगर में बड़े-बड़े ऊँचे महल बन रहे थे।

इस द्वीप का राजा कनककेतु और रानी कंचनमाला थी। ये दम्पति सुखपूर्वक काल व्यतीत करते और न्यायपूर्वक प्रजा को पालते थे। राजा के दो पुत्र और रयनमंजूषा नाम की एक कन्या थी। सो जब वह कन्या यौवनवती हुई, तब राजा को चिन्ता हुई कि इस कन्या का वर कौन होगा? यह पूछने के लिये राजा अपने दोनों पुत्रों को लेकर उद्यान की ओर मुनिराज की तलाश में गया, तो एक जगह वन में अचल मेरुवत् ध्यानारूढ़ परम दिगम्बर मुनि को देखा। तीनों वहाँ जाकर भक्तिसहित नमस्कार कर तीन प्रदक्षिणा देकर बैठ गये और जब मुनिराज का ध्यान खुला, तब वे विनयसहित पूछने लगे-

हे प्रभो! आप जगत पूज्य, करुणासागर, कुमतिविनाशक, ज्ञानसूर्य, शिवमगदर्शक और समस्त दुःखहरण करनेवाले हो। हम अल्पबुद्धि कहाँ तक आपकी स्तुति करें? निराश्रित को आश्रय देनेवाले सच्चे हितू आप ही हैं। हे दीन दयालु प्रभो! मेरे एक चिन्ता उत्पन्न हुई है। वह यह है कि मेरी पुत्री रयनमंजूषा का वर कौन होगा? सो संशय दूर करो।

तब वे परम दयालु समस्त शास्त्रों के पारंगत मुनिराज अवधिज्ञान से विचार करके बोले - 'हे राजन! सहस्रकूट चैत्यालय के वज्रमयी कपाट जो महापुरुष उघाड़ेगा, वही इस पुत्री को वरेगा।' तब राजा प्रसन्नचित्त हो नमस्कार कर अपने घर आया और उसी समय नौकरों को आज्ञा दी कि तुम लोग सहस्रकूट

चैत्यालय के द्वार पर पहरा दो और जो पुरुष आकर वहाँ के वज्रमई किवाड़ उघाड़े, उस पुरुष का भले प्रकार सम्मान करो और उसी समय आकर हमको खबर दो। राजा की आज्ञा पालकर नौकरों ने उसी समय से वहाँ पहरा देना आरम्भ कर दिया।

धवलसेठ ने यहाँ की शोभा और व्यापार का उत्तम स्थान देखकर जहाजों के लंगर डाल दिये, और नगर के निकट डेरा किया, तथा धवलसेइ आदि कुल आदमी बाजार का हालचाल देखने को नगर में गये। श्रीपाल भी गुरुवचन को स्मरण करके कि जहाँ जिनमन्दिर हो, वहाँ पर प्रथम ही जिनदर्शन करना, नित्य षट् आवश्यक क्रियाओं को यथाशक्ति पूर्णत: करना, इत्यादि। वे जिनमन्दिर की खोज में गये। सो अनेक प्रकार नगर की शोभा देखते और मन को आनन्दित करते हुए वे एक अति ही रमणीक स्थान में आये, वहाँ अतिविशाल उत्तंग सुवर्ण का बना हुआ एक सुन्दर मन्दिर देखा। देखते हुए आनन्दित हो मन्दिर के द्वार पर पहुँचे तो देखा कि दरवाजा क्यों बन्द है? तब वे पहरेदार विनयसहित कहने लगे-

''महाराज! यह जिनमन्दिर है। वज्र के कपाटों से बन्द कराया गया है। इसमें और कुछ विकार नहीं है, परीक्षा निमित्त ही बन्द किये गये हैं। सो आज तक तो ये किवाड़ किसी से नहीं उघाड़े गये हैं। अनेकों योद्धा आये और अपना-अपना बल लगाकर थक गये परन्तु किवाड़ न उघड़े।''

श्रीपाल द्वारपालों के वचन सुनकर चुप ही रहे और मन में

हर्षित होकर सिद्धचक्र का आराधन कर ज्यों ही किवाड़ हाथ से दबाये त्यों ही वे खट से खुल गये। तब श्रीपाल ने हर्षित होकर 'ॐजय नि:सहि, जय नि:सहि, जय नि:सहि, जय जय जय।' इत्यादि शब्दों का उच्चारण करते हुए भीतर प्रवेश किया। और श्री जिनके सन्मुख खड़े होकर नीचे लिखे अनुसार स्तुति करने लगे-

श्री जिनबिंब लखी मैं सार, मनवांछित सुख लहो अपार।
जय जय निष्कलंक जिनदेव, जय जय स्वामी अलख अभेव।।

जय जय मिथ्यात्व हर सूर, जय जय शिव तरुवर अंकूर।
जय जय संयमवन घन-मेह, जय जय कंचनसम द्युति देह।।

जय जय कर्म विनाशन हार, जय जय भगवत् जग आधार।
जय कंदर्भ गज दलन मृगेश, जय चारित्र धुराधर शेष।।

जय जय क्रोध सर्पहत मोर, जय अज्ञान रात्रिहर भोर।
जय जय निराभरण शुभ संत, जय जय मुक्ति कामिनीकंत।।

बिन आयुध कुछ शंक न रहे, राग द्वेष तुमको नहिं चहे।
निरावरण तुम हो जिन चन्द्र, भव्य कुमुद विकसावन कंद।।

आज धन्य वारस तिथि वार, आज धन्य मेरो अवतार।
आज धन्य लोचन मम सार, तुम स्वामी देखे जु निहार।।

मस्तक धन्य आज मो भयो, तुम्हरे चरण कमल को नयो।
धन्य पांव मेरे भये अबै, तुम तट आय पहूँचो जबै।।

आज धन्य मेरे कर भये, स्वामी तुम पद परशन लये।
आज हि मुख पवित्र मुझ भयो, रसना धन्य नाम जिन लयो।।

मेरे पाप गये सब आज, आज हि सुधरो मेरो काज।
परम जिनेश्वर के दर्शन कर मन प्रमुदित हुआ रे आज।।

अति ही मुदित भयो मम हियो, पणविव नमस्कार जब किया।
धन्य आप देवन के देव, श्रीपाल को निजपद देव।।

इस प्रकार स्तुति करके फिर सामायिक, वन्दन, आलोचना, प्रत्याख्यान, कायोत्सगादि षट् आवश्यक स्वाध्याय करने लगे। और वे द्वारपाल जो वहाँ पहरे पर थे, ऐसे विचित्र शक्तिधर पुरुष को देखकर आश्चर्यवंत हो, कुछ तो वहाँ ही रहे, और कुछ राजा के पास गये। और सम्पूर्ण वृत्तान्त राजा से कह सुनाया कि महाराज! एक बहुरूपवान, गुणनिधान, सम्पूर्ण लक्षणों का धारी महापुरुष जिनालय के द्वार पर आया, और द्वार बन्द होने का कारण पूछा और 'ॐ नमः सिद्धम' इस प्रकार उच्चारण कर निज करकमलों से सहज ही में किवाड़ खोल दिये। इसलिए हम लोग आपकी आज्ञानुसार यह शुभ समाचार कहने आये हैं।

राजा यह समाचार सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और समाचार देनेवालों को बहुत कुछ पारितोषिक दिया। पश्चात् बड़े उत्साह व गाजे-बाजे सहित सहस्रकूट चैत्यालय पहुँचा। प्रथम ही श्री जिनको नमस्कार कर स्तुति करने लगा-

ॐ नमो तुम जिनवर देव, भव भव मिले तुम्हारी सेव।
तुम जिन सर्व दुःख परहर्न, श्रीलंकृत तुम भविजनशर्न।।
तमु बिन जीव फिरे संसार, जोगी संकट सहे अपार।
तुम बिन करम न छोड़े संग, तुम बिन उपजे मन भ्रमभंग।।
तुम बिन भव आतापहि सहे, तुम बिन जन्म-जरा-मृतु दहे।
तुम बिन कोऊ न लेय उवार, तुम बिन कर्म मिटे न लगार।।

तुम बिन दुरिय दु:ख को हरे, तुम बिन कौन परम सुख करे।
तुम बिन को काटे यमफंद, तुम बिन को पुजवे आनन्द।।

तुम बिन हितू न दूजा कोय, तुम बिन शुभगति कबहुँ न होय।
तुम बिन मैं पापी जग भ्रम्यो, तुम बिन कालवाद सब गयो।।

तुम बिन मैं दु:ख पायो घनों, वेदन शूल कहां लग भनों।
तुम अब तक जिन लखो न कोय, दीनी आयु व्यर्थ सब खोय।।

तातें अर्ज करूँ सुनि लेव, कर्म अनादि काट मम देव।
सेवक की ओर तनिक निहार, जन्म मरण दु:ख कीजे क्षार।।

राजा इस प्रकार प्रभु की वन्दना करने के पश्चात् श्रीपाल के निकट आया, और यथायोग्य सत्कार के पश्चात् कुशल क्षेम और आगमन का कारण पूछने लगा–

हे कुमार! आपका देश कौन है? किस कारण आपका यहाँ शुभागमन हुआ है? इत्यादिक प्रश्न जब राजा ने किये, तब श्रीपाल मन में विचार करने लगे कि यदि मैं अपने मुँह से अपना वृत्तांत कहूँगा, तो राजा को खातिरी (निश्चय) होना कठिन है, क्योंकि इस समय अपने कथन की साक्षी करनेवाला कोई नहीं है, और बिना साक्षी सच भी झूठ हो जाता है। इसलिए मैं राजा को किस प्रकार उत्तर दूं ताकि इनको विश्वास हो।

पुरुष को चाहिए कि कुछ भी कहे; उसके पहिले उसकी सत्यता की सिद्धि के लिए साक्षी ढूंढ ले अथवा चुप ही रहे। इस प्रकार वे सोच ही रहे थे कि पूर्व पुण्य के योग से दो अवधिज्ञानी मुनिराज विहार करते हुए कहीं से वहाँ आ गये। सो ये दोनों उन

मुनि को देखकर परम आनन्दित हो उठ खड़े हुए और बड़ी विनय से स्तुति करने लगे।

अहा! धन्य भाग्य हम सार, भयो दिगम्बर गुरु निहार।
धनि तुम धर्म धुरंधर धीर, सहत वीस दो परिषह धीर।।
धन्य मोहतम हरन दिनन्द, भव्य कुमुद विकसावन चन्द।
कर्म बली जग में परधान, ताह हतन को आप कृपाण।।
सुर हूँ सकहि न तुम गुण गाय, तो हमसे किस वरणे जांय।
हे! प्रभु हम पर होहु दयाल, धर्मबोध दीजिये कृपाल।।

इस प्रकार गुरु की स्तुति करके वे दोनों निज स्थान पर बैठे। श्री गुरु ने उनको 'धर्मवृद्धि' देकर इस तरह उपदेश दिया–

''हे जिज्ञासुओं! सर्व धर्म और सबका मूल सम्यक्त्व है। इसके बिना कुल क्रिया कर्म, जप, तप, संयम सब ही निर्मूल है। इसलिए सबसे पहिले जीवों को यह सम्यक्त्व ग्रहण करना चाहिए। वह सम्यक्त्व दो प्रकार है – एक निश्चय और दूसरा व्यवहार। निजस्वरूपानुभव स्वरूप निश्चय सम्यक्त्व है, और तत्त्वनिश्चय सम्यक्त्व के लिये साधन रूप प्रधान कारण है। इसलिए कारण में कार्य का उपचार होने से उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं।

तथा इसी प्रकार तत्त्वाज्ञान के साधनभूत सच्चे देव, गुरु और शास्त्र हैं। इसलिए इनके श्रद्धान को भी व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। कारण से कार्य होता है, इसलिए कारण की उत्तमता पर ही कार्य की उत्तमता समझनी चाहिए। तात्पर्य – सर्व दोषों

से रहित ही (वीतराग) लोकालोक का ज्ञाता सर्वज्ञ और सर्व जीवों का हित करनेवाला (हितोपदेशी) ऐसा तो देव अर्हंत ही है। अथवा समस्त कर्म रहित सिद्ध परमेष्ठी देव कहलाते हैं। तथा ऐसे ही देव के द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तस्वरूप धर्म तथा द्वादशांगरूप शास्त्र तथा परम जितेन्द्रिय अट्ठाईस मूलगुण और ८४००००० उत्तरगुणों के धारी आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु गुरु इन तीनों का भी सम्यक् श्रद्धान करना चाहिए।

स्वप्न में भी इनके सिवाय अन्य भेषी कुलिंगीदेव, गुरु व जैनाभास मत तथा जैनेत्तर मत स्वरूप धर्म को कदापि अंगीकार नहीं करना चाहिए। ये ही पंच परमेष्ठी-(अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु) भव्य जीवों को भवसागर से पार करने में समर्थ कारणस्वरूप होते हैं। इसलिए हे वत्स! तुम मन, वचन, काय से इनही का आराधन करो, जिससे उभयलोक में सुख पाओ। ऐसा जानकर सम्यग्दर्शनपूर्वक सप्त व्यसनों का त्याग करो तथा पंच अणुव्रत और सप्त शील का पालन करो।

हे वत्स! इन सब व्रतों को धारण करने का मुख्य तात्पर्य विषय और कषायों को कम करना अथवा सर्वथा अभाव करना है। क्योंकि आत्मा का अहित करनेवाले विषय कषाय ही हैं **आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाये।** जो भव्य जीव इन मूल बातों पर दृष्टि रखकर व्रत चरण करते हैं, उन्हीं का व्रत करना सफल है, क्योंकि जो जड़ को काटकर वृक्ष व फलों की रक्षा करना चाहता है, वह मूर्ख है। 'मूलो नास्ति

कुत: शाखा।' यथार्थ में मोह से उत्पन्न ये राग-द्वेषादि कषाय ही आत्मा के परम शत्रु हैं, इन्हीं के निमित्त से कर्मों का आस्रव और बन्ध होता है।

जैसे-जैसे जीव कर्म करता है, वैसे ही शुभाशुभरूप होकर पुद्गल की कर्मवर्गणायें आत्मा की ओर जाती हैं, जिससे तीव्र व मन्द कषाय भावों के अनुसार तीव्र व मन्द रूप स्थिति व अनुभाग को लिये हुए कर्मों का बन्ध होता है। इसी प्रकार यह जीव अनादिकाल से कर्मबन्ध करता हुआ, संसार में जन्म-मरणादि अनेक दु:खों को भोगता है। यह संसारी मोही जीव पुद्गलकर्मों के वश हो जाने के कारण शुद्ध आत्मा के स्वरूप को भूला हुआ चतुर्गति में ८४००००० योनियों में १९९।। कोटि कुलरूप स्वांग धरकर विषय-वासनाओं में ही सुख मान रहा है।

इसलिए धर्म के स्वरूप को जानकर श्रद्धापूर्वक जो पुरुष विषय और कषायों के दमन करनेवाले दो प्रकार (सागार और अनगार) धर्म को धारण करते हैं, वे स्वर्गादि के सुखों को भोगकर अनुक्रम से सच्चे (मोक्ष के) सुख को प्राप्त होते हैं। परन्तु जो लोग धर्म का स्वरूप समझे बिना केवल बाह्य चारित्र में ही रंजित हो जाते हैं, वे संसार के पात्र ही बने रहते हैं। उनकी यह सब क्रिया कायक्लेश मात्र ही रहती है। इसी से जिनदेव ने प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही चारित्र को सम्यक्चारित्र कहा है। इसलिए यथाशक्ति चारित्र भी धारण करना चाहिए।''

गुरु का यह उपदेश उन दोनों को अमृत के समान हितकारी प्रतीत हुआ। सो उन्होंने ध्यानपूर्वक सुना। पश्चात् राजा कनककेतु ने विनयपूर्वक पूछा-'हे प्रभो! यह पुरुष कौन है? और किस कारण यहाँ आया है?' तब श्रीगुरु ने कहा-

यह अंगदेश चम्पापुर नगर के राजा अरिदमन तथा उसकी रानी कुन्दप्रभा का पुत्र श्रीपाल है। जब इसका पिता कालवश हो गया, तब यह राजा हुआ परन्तु इसको पूर्वसंचित अशुभ कर्मों के योग से सात-सौ सखों सहित कोढ़ रोग हो गया, जिससे प्रजा को भी दुर्गन्धि से बहुत पीड़ा होने लगी। सो जब प्रजा की पीड़ा का समाचार इसके कान तक पहुँचा, तब इस दयालु प्रजावत्सल धीरवीर ने अपने काका अरिदमन को राज्य देकर सब सखों समेत वन का मार्ग लिया और फिरते-फिरते उज्जैनी नगरी मालवादेश में आया। वहाँ नगर के बाहिर उद्यान में डेरा किया। सो वहाँ के राजा पहुपाल ने इसके पूर्व पुण्य के उदय से इससे सन्तुष्ट हो, अपनी पुत्री मैनासुन्दरी के भाग्य की परीक्षा लेने के लिये वह गुण-रूपवती सुशील कन्या इससे व्याह दी।

वह कन्या सच्ची सती और धर्मात्मा थी, इसलिए इस विदुषी कन्या ने अपने पिता के द्वारा पसन्द किये हुए, इस कोढ़ी वर को सहर्ष स्वीकार कर लिया और अपने शुद्ध चित्त से पतिसेवा तथा उपचार कर स्व-कर्तव्य का पालन किया तथा अष्टाह्निका (सिद्धचक्र) व्रत भी किया, जिसके प्रभाव से इसको शीघ्र आराम हो गया। अर्थात् हे भव्य! वह नित्य श्रीजिनदेव की

पूजनाभिषेक करके गन्धोदक लाती, और सात-सौ वीरों सहित इस पर लगती थी, और निरन्तर सिद्धचक्र का आराधन करती हुई, शीलव्रत की भावना भाती थी, जिससे इसका कोढ़ थोड़े ही दिनों में चला गया। और इसका शरीर जैसा तुम देख रहे हो सुन्दर स्वरूपवान् हो गया।

पश्चात् कुछ दिनों के पीछे इसे विचार हुआ कि मैं राजजंवाई कहलाता हूँ। और मेरे पिता, कुल व देश का कोई नाम तक नहीं लेता है, यह बड़ी लज्जा की बात है। इसलिए पिछली रात्रि को घर से निकलकर फिरते-फिरते एक वन में आया। वहाँ पर एक विद्याधर को विद्या साधते और सिद्ध न होते देखकर इसने उसे सिद्ध करके सौंप दी, जिससे उसने प्रसन्न होकर दो अन्य विद्यायें इसे भेंट की।

फिर वहाँ से आगे चलकर यह वत्स नगर में आया। सो वहाँ पर धवल सेठ के पाँच-सौ जहाज समुद्र में अटक रहे थे, उनको ढकेल कर चलाया। तब उसने अपने लाभ का दसवाँ भाग इसे देना स्वीकार कर अपने साथ ही ले लिया। पश्चात् रास्ते में आते हुए डाकुओं ने जहाज घेर लिये और सेठ को बाँधकर ले चले। तब इस वीर ने निज भुजबल से उन सब को बाँधकर सेठ को छुड़ा लिया और फिर उन सब डाकुओं को छोड़कर उनका बहुत सम्मान किया, जिससे उन्होंने प्रसन्न होकर अमूल्य रत्नों से भरे हुए सात जहाज भेंट किये। इस प्रकार वहाँ से यह महापुरुष उस धवलसेठ के साथ चलकर यहाँ आया है, और

जिनदर्शन निमित्त से वज्रमय कपाट उघाड़े हैं।

इस प्रकार श्रीपाल का चरित्र सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और मुनिवरों को नमस्कार कर श्रीपाल को साथ ले अपने महल को आया और शुभ घड़ी मुहूर्त विचारकर अपनी पुत्री रयनमंजूषा का विवाह इनके साथ कर दिया। इस प्रकार श्रीपाल रयनमंजूषा को ब्याहकर वहाँ सुख से काल व्यतीत करने लगे और धवलसेठ भी यथायोग्य वस्तु बेचने और खरीदनेरूप अपना व्यापार करने लगा।

●●●

श्रीपालजी की विदा

इस प्रकार सुखपूर्वक समय व्यतीत होते हुए कुछ भी मालूम नहीं होता था। सो इस प्रकार जब बहुत समय व्यतीत हो गया और धवलसेठ भी अपना व्यापार कर चुके, तब एक दिन श्रीपालजी से सलाह कर राजा के पास गए; और विनती करके बोले–'हे नर नायक! प्रजावत्सल स्वामिन्! इमको आपके प्रसाद से बहुत आनन्द रहा, और बहुत सुख भोगा। अब आपकी आज्ञा हो तो हम लोग देशान्तर को प्रस्थान करें।

राजा को यद्यपि ये वियोगसूचक वचन अच्छे नहीं लगे, क्योंकि संसार में ऐसा कौन कठोर चित्त है, जो अपने स्वजनों को अलग करना चाहे, परन्तु यह सोचकर कि यदि हठकर रखेंगे तो कदाचित् इनको दु:ख होगा और परदेशी की प्रीति भी तो क्षणिक ही होती है, इसलिए जैसी इनकी इच्छा हो, वैसा ही करना उचित है। इससे वे उदास होकर बोले–

'आप लोगों की जैसी इच्छा हो और जिस तरह आपको हर्ष हो, सो ही हमको स्वीकार है।' ठीक है, सज्जन पुरुषों की यही रीति होती है कि वे पर के दु:ख में दु:खी और पर के सुख में सुखी होते हैं, अर्थात् वे किसी की उचित कामना का विघात नहीं करते। फिर तो ये राजा के स्वजन ही थे, इसलिए राजा ने इनका वचन स्वीकार करके जाने के लिये आज्ञा प्रदान की और बहुत धन, धान्य, दासी, दास, हिरण्य, सुवर्ण आदि अमूल्य रत्न भेंट देकर निज पुत्री रयनमंजूषा को भी साथ में विदा कर दिया।

चलते समय राजा बहुत दूर तक पहुँचाने को गये और निज पुत्री को इस प्रकार शिक्षा देने लगे – 'हे पुत्री! तुम अपने कुल के आचार को नहीं छोड़ना कि जिससे मेरी हंसी हो। तुमसे जो बड़े हों, उनको भूल करके भी कषाययुक्त होकर सन्मुख उत्तर नहीं देना, और सदा उनकी आज्ञा शिरोधार्य करना। छोटों पर करुणा व प्रेम भाव रखना, दीनों पर दया करना, स्वप्न में भी किसी से वैर-विरोध नहीं करना। तुम अपने से बड़े पुरुष को मुझ (पिता) समान, समवयस्क को भाई के समान और छोटे को पुत्रवत् समझना। मन, वचन, काय से पति की सेवा करना और उससे कभी भी विमुख नहीं होना। कैसा भी समय क्यों न आवे; परन्तु मिथ्यादेव, गुरु और धर्म को सेवन नहीं करना; निरन्तर पंच परमेष्ठी का आराधन किया करना। सच्चे देव, गुरु, धर्म को कभी नहीं भूलना। और हे पुत्री! नर-नारियों का जो प्रधान भूषण शीलव्रत है, उसे मन, वचन, काय से भले प्रकार पालन करना।'

इस प्रकार पुत्री को शिक्षा देकर राजा श्रीपाल के निकट आये और मधुर शब्दों में कहने लगे 'हे कुमार! मुझसे आपकी कुछ भी सेवा सुश्रूषा नहीं हो सकी, सो क्षमा कीजिये, और यह दासी आपको दी है, सो इससे भले प्रकार सेवा कराइये। मैं आपको कुछ भी देने में समर्थ नहीं हूँ। केवल यह गुण-बुद्धिहीन, एक कन्यारूपी लघु भेंट दी है। यही मेरी दीनता की निशानी है। इसके सिवाय मैं आपका किसी प्रकार की सत्कार

नहीं कर सका हूँ, अत: क्षमा प्रदान कीजिए।

तब श्रीपालजी बोले – 'हे राजन्! आपने जो स्त्रीरत्न प्रदान किया है, वही सब कुछ है। इससे और अधिक सम्पत्ति और सम्मान संसार में हो ही क्या सकता है? मुझे तो आपके प्रसाद में अर्थ और काम दोनों की प्राप्ति हुई है, इसलिए आपका मुझ पर बहुत उपकार है। मैं आपकी बढ़ाई कहाँ तक करूँ?' ऐसे परस्पर वात्सल्य के वचन कहे। पश्चात् राजा बोले – हे कुमार! यद्यपि जी नहीं चाहता है कि आपको मैं यहाँ से विदा होते हुए देखूं, परन्तु रोकना भी अनुचित समझता हूँ क्योंकि इससे कदाचित् आपके चित्त में संक्लेश उत्पन्न हो और प्रस्थान के समय अपशकुन तथा यात्रा में विघ्न समझा जाये, इसलिए मैं आपसे केवल यह वचन कहना चाहता हूँ–

साठ पाव सौ आगरे, सेर जास चालीस।
ता बिज मुझको राखियो, यह चाहता बखशीस।।

अर्थात् – मुझे मन में रखिए, भूलिये नहीं। तथा :–

चक्रवर्त के तट रहे, चार अक्षर के माह।
पहिलो अक्षर छोड़कर, सो दीजो मुझ आह।।

अर्थात् – 'दर्शन' भी देते रहिये। और :–

मुझ अवगुण लखियो नहीं, लखियो निजकुल रीत।
ऐसी सदा निवाहियो, मासा घटे न प्रीति।।

अर्थात्– मेरे अवगुणों को कुछ भी न चितारकर केवल अपने कुल की रीति को ही देखिये और ऐसा निर्वाह कीजिये जिससे

किंचित्मात्र भी प्रीति कम न होने पावे। तब श्रीपालजी ने कहा-

कहन सुनन की बात नहिं, लिखी पढ़ी नहिं जात।
अपने मन सम जानियो, हमरे मन की बात।।

अर्थात् - हे राजन्! जितना प्रेम आपका मुझ पर रहेगा, मेरी ओर से भी उससे कम कभी नहीं हो सकता। देखिये-

सिन्धुपार अण्डा धरै, भ्रमै दिशान्तर जाय।
टटीहरी पक्षी कबहुँ, अण्डा नहीं भुलाय।।

अर्थात् - टिटहरी पक्षी समुद्र के किनारे अण्डे रखकर दिशान्तर में चले जाते हैं, परन्तु अपना अण्डा नहीं भूलते हैं। उसी प्रकार मैं आपको भूल नहीं सकता। क्योंकि:-

यद्यपि चन्द्र आकाश में, रहै पद्मिनी ताल।
तौ भी इतनी दूर से, विकसावत रख ख्याल।।

अर्थात्- दूर चले जाने से भी सज्जनों की प्रीति कम नहीं हो सकती है। जैसे चन्द्रमा आकाश में रहते हुए भी कुमुदिनी को प्रफुल्लित करता रहता है। और :-

दुर्जन सेवा कीजिये, रखिये अपने पास।
तौहू होत न रंच सुख, ज्यों जल कमल निवास।

अर्थात्- दुर्जन की नित्य सेवा भी कीजिये और सदा पास रखिये तो भी प्रीति नहीं होती। जैसे जल में रहकर भी कमल उससे नहीं मिलता है। इसलिए हे राजन् :-

हम पक्षी तुम कमल दल, सदा रहो भरपूर।
मुझको कबु न भूलियो, क्या नीरे क्या दूर।।इत्यादि।।

इस प्रकार श्वसुर-दामाद का परस्पर प्रेमालाप हुआ और पश्चात् श्रीपालजी ने रयनमंजूषा को साथ लेकर हंसद्वीप से प्रस्थान किया।

●●●

समुद्र-पतन

श्रीपाल रयनमंजूषा को लेकर जब धवलसेठ के साथ जल-यात्रा को निकले, तब हंसद्वीप के लोगों को इनके वियोग से बहुत दुःख हुआ, परन्तु वे बेचारे कर ही क्या सकते थे?

परदेशी की प्रीति त्यों, ज्यों बालू की भीत।
ये नहिं टिके बहुत दिवस, निश्चय समझो मीत।।

श्रीपाल को श्वसुर के छोड़ने का तथा रयनमंजूषा को भी माता-पिता को छोड़ने का उतना ही रंज हुआ जितना कि उनको अपनी पुत्री और दामाद के छोड़ने में हुआ था; परन्तु ज्यों-ज्यों दूर निकलते गये और दिन भी अधिक-अधिक होते गए, त्यों-त्यों परस्पर की याद भूलने से दुःख भी कम होता गया। ठीक है-

नयन उघारै सब लखै, नयन झपें कछु नांहि।
नयन बिछोहो होत ही, सुध बुध कछु न रहाहिं।।

वे दम्पति सुखपूर्वक काल व्यतीत करते और सर्व संघ के मनों को रंजायमान करते हुए चले जा रहे थे कि एक दिन विनोदार्थ श्रीपालजी ने रयनमंजूषा से कहा - हे प्रिये! देखो,

तुम्हारे पिता ने बिना विचारे और बिना कुछ पूछे, अर्थात् मेरा कुल आदि जाने बिना ही मुझ परदेशी के साथ तुम्हारा विवाह कर दिया, सो यह बात उचित नहीं थी।

रयनमंजूषा पति के यह वचन सुनकर एकदम सहम गयी, मानों पद्मिनी चन्द्र के अस्त होते ही मुरझा गयी हो। वह नीची दृष्टि कर बड़े विचार में पड़ गयी कि देव! यह क्या चरित्र है? यथार्थ में क्या यह बात ऐसी ही है? कुछ समझ में नहीं आता। यदि यह बात सत्य है तो पिता ने बड़ी भूल की। चाहे जो हो, कुलीन कन्या अकुलीन से प्रसंग कभी नहीं कर सकती है। क्योंकि कहा है-

पहुप गुच्छ शिर पर रहे, या सूखे वन मांह।
तैसे कुलवंतन् सुता, अकुलीन घर नहिं जांह।।

देव! तेरी गति विचित्र है। तू क्या-क्या खेल दिखता है। इत्यादि विचारों में मग्न हो गयी और मुंह से कुछ भी शब्द न निकला। तब श्रीपाल ने अपनी प्रिया को इस तरह चिंतित देखकर कहा-

''प्रिये! सन्देह छोड़ो। मैंने यह वचन केवल तुम्हारी परीक्षा करने के लिये ही कहे थे। सुनो, मेरा चरित्र इस प्रकार है। ऐसा कहकर आद्योपांत कुल चरित्र कह सुनाया। तब रयनमंजूषा को सुनकर सन्तोष हुआ। और उन दोनों का प्रेम पहिले से भी अधिक बढ़ गया। जहाजों के सभी स्त्री-पुरुषों में इन दोनों के पुण्य की महिमा ही गायी जाती थी।

ये दोनों सबको दर्शनीय हो रहे थे, परन्तु दिन के पीछे रात्रि और रात्रि के पीछे दिन होता है। ठीक इसी प्रकार शुभाशुभकर्मों का चक्र भी चलता रहता है। कर्म को उन दोनों का आनन्द वैभव अच्छा नहीं लगा। और उसने बीच ही में बाधा डाल दी, अर्थात् वह कृतघ्नी धवलसेठ जो इनको धर्मसुत बनाकर और अपने लाभ का दसवाँ भाग देने का वायदा करके साथ लाया था, सो रयनमंजूषा के अनुपम रूप और सौन्दर्य को देखकर उस पर मोहित हो गया, और निरन्तर इसी चिन्ता में उसका शरीर क्षीण होने लगा।

एक दिन वह दुष्टमति उसे देखकर मूर्छित हो गिर पड़ा, जिससे सब जहाजों में कोलाहल मच गया तथा श्रीपालजी भी शीघ्र ही वहाँ आये। उन्होंने सेठ को तुरन्त गोद में उठा लिया। शीतोपचार कर जैसे-तैसे मूर्छा दूर की, तो भी उसे अत्यन्त वेदना से व्याकुल पाया। तब श्रीपाल ने मधुर शब्दों से पूछा- 'हे तात! आपको क्या वेदना है। कृपाकर कहो। तब उस दुष्ट ने बात बनाकर कहा - हे धीर पुरुष! मुझे वायु का रोग है। सो कभी-कभी वह उठकर पीड़ा देता है। और कोई विशेष कारण नहीं है। साधारण औषधोपचार से ठीक हो जाएगा। तब श्रीपाल उसे धैर्य देकर और अंगरक्षकों को ताकीद करके अपने मुकाम पर चले गये। पश्चात् मन्त्रियों ने पूछा-

हे सेठ! कृपाकर कहो कि यह रोग कैसे मिटे और क्या उपाय किया जाए? तब सेठ निर्लज्ज होकर बोला - मन्त्रियों!

मुझे और कोई रोग नहीं है। केवल कामविरह की पीड़ा है, सो यदि मेरे मन को चुरानेवाली वह कोमलांगी मृगनयनी रयनमंजूषा नहीं मिलेगी तो मेरा जीना कष्टसाध्य होगा।

मन्त्रियों को सेठ के ऐसे घृणित शब्द सुनकर बहुत दु:ख हुआ। वे विचारने लगे कि सेठ की बुद्धि नष्ट हो गयी है। इस कुबुद्धि का फल इसको और समस्त संघ को भयकारी प्रतीत होता है। यह सोचकर उन्होंने नाना प्रकार की युक्तियों द्वारा सेठ को समझाया। परन्तु उस दुष्ट ने एक भी न मानी। वह निरन्तर वही शब्द कहता गया। अन्तत: लाचार होकर मन्त्रियों ने कहा कि सेठ! यदि आप अपना हठ न छोड़ेंगे, और इस घृणित कार्य का उद्यम करेंगे तो स्मरण रखिये, परिणाम अच्छा न होगा।

क्योंकि रावण जैसा त्रिखण्डी प्रतिनारायण और कीचक आदि की कथाएं शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। परस्त्री सर्पिणी से भी अधिक विषैली होती है। देखो, इसका हठ छोड़ो। हम लोग आज्ञाकारी हैं, जो आज्ञा होगी सो करेंगे, परन्तु स्वामी की हानि और लाभ की सूचना कर देना, यह हमारा धर्म है। आप हम लोगों की बात पीछे याद करेंगे। इत्यादि बहुत कुछ समझाया, परन्तु जब देखा कि वह मानता ही नहीं है, तब वे लाचार होकर बोले–

सेठजी! इसका केवल एक ही उपाय है कि मरजिया को बुलाकर साध लिया जाये कि जिसमें वह एकाएक कोताहल मचा दे कि ''आगे न मालूम कोई जानवर है, या चोर है, या कुछ ऐसा ही देवी चरित्र है दौड़ो, उठो, सावधान होओ।'' सो

इस आवाज को सुनकर जब श्रीपाल मस्तूल पर चढ़कर देखने लगेंगे, तब मस्तूल काट दिया जाये। इस तरह वे समुद्र में गिर जावेंगे और आपका मन वांछित कार्य सिद्ध हो जायेगा। अन्यथा उसके रहते उसकी प्रिया का पाना मानों अग्नि में से बर्फ निकालना है।

मन्त्रियों का यह विचार उस पापी को अच्छा मालूम हुआ। और इसलिए उसने उसी समय मरजिया को बुलाकर बहुत प्रकार प्रलोभन देकर साध लिया। ठीक है, पुरुष स्वार्थवश आनेवाली आपत्तियों का विचार नहीं करते। पश्चात् एक दिन अवसर पाकर मरजिया ने एकाएक चिल्लाना आरम्भ किया – वीरों! सावधान होओ! सामने भय के चिह्न दिखाई दे रहे हैं। न मालूम कोई बड़ा जल जन्तु है, या चोरदल है, अथवा ऐसा ही और कोई देवी चरित्र है, तूफान है या भंवर है, कुछ समझ में नहीं आता।

इस प्रकार चिल्लाने से कोलाहल मच गया। सब लोग जहाँ-तहाँ क्या है? क्या है? करके चिल्लाने और पूछने लगे। इतने ही में श्रीपालजी को खबर लगी, सो वे तुरन्त ही उठ खड़े हुए और कहने लगे – अलग होओ! यह क्या है? कहने का समय नहीं। चलकर देखना और उसका उपाय करना ही चाहिए। ऐसा कहकर वे आगे बढ़कर शीघ्र ही मस्तूल पर जा खड़े हुए और बड़ी सावधानी से चारों ओर देखने लगे, परन्तु कहीं भी कुछ दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इतने में नीचे से दुष्टों ने मस्तूल काट दिया, जिससे वे बात की बात में समुद्र में जा पड़े, और

लहरों में ऊँचे नीचे होने लगे। यहाँ जहाजों में कोलाहल मच गया कि मस्तूल टूट जाने से श्रीपाल कुमार समुद्र में गिर पड़े हैं। और न जाने कहाँ रह गये! उनका पता नहीं लगता, जीवित हैं या मर गये? इस प्रकार सबने शोक मनाया और धवलसेठ ने भी बनावटी शोक करना आरम्भ कर दिया।

वह कहने लगा – हाय कोटीभट्ट श्रीपाल! तुम कहाँ चले गये? तुम्हारे बिना यह यात्रा कैसे सफल होगी? हाय! इन भारी जहाजों को निज भुजबल से चलानेवाले, लक्ष चोरों को बाँधकर मुझे उनसे बन्धन से छुड़ानेवाले, हाय! कहाँ चले गये। हे कुमार! इस अल्पवय में असीम पराक्रम दिखाकर क्यों चले गये? तुम बिना विपत्ति में कौन रक्षा करेगा? हा देव! तूने हमको अनमोल रत्न दिखाकर क्यों छीन लिया? इत्यादि ऊपरी मन से बनावटी रोना रोने लगा। अन्तरंग में तो वह हर्ष के मारे फूलकर कुप्पा हो रहा था परन्तु संघ में और बहुतों को तो सचमुच ही बहुत दु:ख हुआ, सो ठीक है। कहा भी है–

'जिसका घी गिर जाय, सो ही सूखा खाय।'

सो औरों को सच्चा दु:ख हो या झूठा, परन्तु धवलसेठ को बनावटी शोक था; परन्तु औरों का सच्चा था, क्योंकि उनका तो श्रीपाल से बिगाड़ ही क्या था, वह तो धवल जैसे कठोर हृदय स्वार्थियों का कांटा ही थे, सो निकल गये। अस्तु।

किसी को कुछ भी हो, परन्तु स्त्रियों को तो शरण-आधार पति के बिना संसार अन्धकारमय हो जाता है। पति के बिना

सुन्दर, सुकोमल सेज भी विषम कंटक समान चुभती है। सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और आभूषण कठिन बन्धनों से भी अधिक दु:ख देनेवाले प्रतीत होते हैं। संगीत आदि मधुर स्वर सिंह की भयानक गर्जना से भी भयानक मालूम होते हैं, षट्रसपूरित सुगन्धित मिष्ट भोजन हलाहल विष तुल्य मालूम पड़ता है। यथार्थ में पतिविहीन स्त्रियों का जीवन पृथ्वी पर अर्धदग्ध जेवरी के समान है। हाय! जिस समय उस सुकुमार अबला रयनमंजूषा ने यह सुना कि स्वामी समुद्र में गिर गये हैं, उसी समय वह बेसुध हो मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी।

मालूम होता था कि कदाचित् उसके प्राण-पखेरू ही इस विनाशीक शरीररूपी घोंसले से विदा लेकर सदा के लिये चले गये हैं; परन्तु नहीं, अभी आयुकर्म नि:शेष नहीं हुआ था और कर्म को कुछ अपना ही खेल भी दिखाना था, इसी से वह जीवित रह गयी।

सखीजनों ने शीतोपचार कर मूर्छा दूर की; तो सचेत होते ही स्वामिन्! इस अबला को छोड़कर तुम कहाँ चले गये? तुम्हारे बिना यह जीवन यात्रा कैसे पूरी होगी? हे नाथ! अब यह अबला आपके दर्शन की प्यासी पपीहा की भाँति व्याकुल हो रही है। हे कोटी भट्ट! हे कामदेव! हे कुलकमल दिवाकर! तुम्हारे बिना मुझे अब एक-एक पल भी चैन नहीं पड़ती है। हे जीवदया प्रतिपालक प्राणेश्वर! दासी पर दयादृष्टि करो। मेरा चित्त अधीर हो रहा है। हे नाथ! सिद्धचक्र का वर्णन कौन करेगा?

हा निर्दयी कर्म! तूने कुछ भी विचार न किया। मुझ निरपराधिनी को क्यों ऐसा दु:सह दु:ख दिया? हाय! यह आयु स्वामी की गोद में ही पूरी हो गई होती तो ठीक था। अब यह संसार भयानक वन सरीखा दिखता है। हे त्रिलोकीनाथ! सर्वज्ञ प्रभो! हे वीतराग स्वामिन्! मेरे पति की सहायता कीजिये! हे सिद्ध भगवान्! आपके आराधन मात्र से वज्रमयी किवाड़ खुल गये थे, सो इस संकट में भी स्वामी की रक्षा कीजिये। स्वामी के निमित्त से प्राण कुछ भी वस्तु नहीं हैं। हाय! मुझे नहीं मालूम कि मैंने ऐसे कौन से कर्म किये थे कि जिससे स्वामी का वियोग हुआ? क्या मैंने पूर्व जन्म में पर पुरुष की इच्छा की थी? या पति-आज्ञा भंग की थी? या किसी का व्रत भंग करवाया था? जिनधर्म की निन्दा की थी? या गुरु की अविनय की थी? या किसी को पति वियोग कराया था? या हिंसामय धर्म का सेवन किया था? या कुगुरु, कुदेव की भक्ति की थी? या अपना व्रत भंग किया था? या असत्य भाषण किया था? या कन्दमूल आदि अभक्ष्य भक्षण किया था? हाय! कौन सा अशुभ उदय आया कि जिससे प्राणप्यारे पति का वियोग हुआ? हे स्वामिन्! आओ, दासी की खबर लो।

देखो, मैनासुन्दरी से आपका वायदा था कि बारह वर्ष में आऊंगा, सो क्या भूल गये? नाथ! मुझ पर नहीं तो उन्हीं पर सही, दया करो! क्या करूं और किस तरह धैर्य धरूँ? अरे, कोई भी मेरे प्राण प्यारे भरतार की कुशल मुझे आकर सुनाओ!

हे समुद्र! तू स्वामी के बदले मुझे ही लेकर यमपुर पहुँचा देता तो ठीक था! स्वामी के बिना मेरा जीवन व्यर्थ है। मैं जीकर अब क्या करूँगी? इच्छा होती है कि मैं गिरकर प्राण दे दूँ, परन्तु आत्मघात महापाप है। यदि मुझसे सेवा में कुछ कमी हो गयी थी, तो मुझे उसका दण्ड देते। अपने आपको क्यों दु:ख सागर में डुबोया? अब बहुत देर हुई। प्रसन्न होओ और अबला को जीवनदान दो, नहीं तो अब ये प्राण आपको न्योछावर होते हैं! अब हे प्रभो! आपका ही शरण है, पार कीजिये।

इस प्रकार रयनमंजूषा ने घोर विलाप किया। उसका शरीर कान्तिहीन मुरझाये फूल सरीखा दिखने लगा, खानपान छूट गया, शृंगार भी स्वामी के साथ समुद्र में डूब गया। इस प्रकार उस सती को दु:ख से विह्वल देखकर सब लोक यथायोग्य धैर्य बँधाने लगे और पापी धवलसेठ शोकाकुल होकर समझाने लगा।

हे सुन्दरी! अब शोक छोड़ो! होनी अमिट है। इस पर किसी का वश नहीं। संसार का सब स्वरूप ऐसा ही है। जो उपजता है, वह नियम से नाश होता है। अब व्यर्थ शोक करने से क्या हो सकता है? अब यदि तुम भी उनके लिये मर जाओ तो भी वे तुम्हें नहीं मिल सकते हैं। सांझ को अनेक दिशाओं से पक्षी आकर एक स्थान में ठहरते हैं और भोर होते ही अपनी-अपनी अवधि पूरी कर अपनी-अपनी दिशा को चले जाते हैं। इस पृथ्वी पर बड़े-बड़े चक्रवर्ती, नारायणादि हो गये परन्तु काल ने सबको अपना ग्रास बना लिया। कर्मवश विपत्ति सबके ऊपर

आती है। कर्मवश रामचन्द्र, लक्ष्मण का वनवास हुआ। कर्मवश सीता का पति से दो बार विछोह हुआ। कर्मवश भरत चक्रवर्ती का मान भंग हुआ। कर्मवश ही आदिनाथ तीर्थेश्वर को छह मास तक भोजन का अन्तराय हुआ। तात्पर्य – कर्म ने जग जीत लिया है, इसलिए शोक छोड़ो। हम लोगों को भी असीम दु:ख हुआ है, परन्तु किससे कहें और क्या करें? कुछ उपाय नहीं है।

इस प्रकार सबने समझाकर रयनमंजूषा को धैर्य दिया। तब वह भी संसार के स्वरूप का विचार कर किसी प्रकार धैर्य धारण कर सोचने लगी – यथार्थ में शोक करने से असातावेदनीय आदि अशुभकर्मों का बंध होता है। सो यदि इतने ही समय में जितने में शोक कर रही हूँ, श्री पंच परमेष्ठी का आराधन करूँगी तो अशुभकर्म की निर्जरा होगी और यह भी आशा है कि उससे कदाचित् प्राणपति का भी मिलाप हो जाये। क्योंकि सीता को इसी परमेष्ठी मन्त्र की आराधना से शुभ कर्मोदयवश पति का मिलाप और अग्नि का जल हो गया था।

अंजना को इसी मन्त्र के प्रभाव से उसके प्राणप्रिय पति की भेंट हुई थी। और तो क्या पशु और पक्षियों की भी इसी मन्त्र के प्रभाव से शुभ गति हो गयी है, सो मेरे भी इस अशुभकर्म का अन्त इसी की आराधना से आवेगा। और कदाचित् इसी मन्त्र की आराधना करते हुए मरण भी हो गया तो भी इस पर्याय से छुटकारा मिलते ही सद्गति प्राप्त हो जायेगी।

वास्तव में यह महामन्त्र तीन लोक में अपराजित है, अनादि–

निधन है, मंगलरूप है, लोक में उत्तम है और शरणाधार है। अब मुझे इसी का शरण लेना योग्य है। बस, वह सती इसी विचार में मग्न हो गयी। अर्थात् मन में पंच परमेष्ठी मन्त्र की आराधना करने लगी। उसे खानपान की भी सुध न रही। दो चार दिन यों ही बीत गये। स्नान, विलेपन और वस्त्राभूषण का ध्यान ही किसे था? वह किसी से बात भी नहीं करती थी, न किसी की ओर देखती थी। नींद, भूख, प्यास तो उसके पास ही नहीं रहे थे। उसको मात्र पंच परमेष्ठी का स्मरण और पति का ध्यान था।

वह पतिव्रता उन जहाजों में इस प्रकार रहती थी, जैसे जल में कमल भिन्न रहता है। वह परम वियोगिनी इस प्रकार काल व्यतीत करने लगी।

●●●

धवलसेठ का रयनमंजूषा को बहकाना

धवलसेठ के ये दिन बड़ी कठिनता से जा रहे थे। इसलिए उसने शीघ्र ही एक दूती को बुलाकर रयनमंजूषा को फुसलाने के लिये भेजा। सो ठीक है –

कामलुब्धे कुतो लज्जा, अर्थहीने कुतः क्रिया।
सुरापाने कुतः शौचं, मांसाहारे कुतो दया।।

अर्थात् कामी को लज्जा कहाँ? और दरिद्र के क्रिया कहाँ? मद्यपायी के पवित्रता कहाँ! और माँसाहारी के दया कहाँ! सो पापिनी दूती व्यभिचारी की खान, लोभ के वश होकर शीघ्र ही रयनमंजूषा के पास गयी और यहाँ–वहाँ की बातें बनाकर कहने लगी–

''हे पुत्री! धैर्य रखो। होना था सो हुआ, गयी बात का विचार ही क्या करना है! हाँ यथार्थ में तेरे दुःख का ठिकाना नहीं है कि इस बालावस्था में पति वियोग हो गया। अब इस बात की चिन्ता कहाँ तक करेगी? अभी तो तेरी नवीन अवस्था है, इसमें काम का जीतना बड़ा कठिन है! सो बेटी! तू कैसे उस काम के बाणों को सहेगी? जिस काम के वशीभूत होकर साधु और साध्वी ने रुद्र व नारद की उत्पत्ति की, जिस काम से पीड़ित होकर रावण ने सीता हरण किया, जिस काम के वश में और तो क्या, देव भी हैं, उस काम को जीतना बहुत कठिन है। और ठीक ही कहा है–

घास फूस को खात हैं, तिनहिं सतावे काम।
षट् रस भोजन जो करें, उनकी जाने राम।।

सो अब इस यौवन को पाकर व्यर्थ नहीं खो देना चाहिए। यौवन गया हुआ फिर नहीं मिलता है। केवल पछतावा ही हाथ रह जाता है। जिन्होंने तरुण अवस्था पाकर विषय नहीं सेया, उनका नरजन्म न पाने के बराबर है। तू अब श्रीपाल का शोक छोड़कर इस परम ऐश्वर्यवान, रूपवान और धनवान सेठ को ही अपना पति बना।

मरे के पीछे कोई मर नहीं जाता। मर गया तो जी का कण्टक छूटा। ऐसी लाज से क्या लाभ जो जीवन के आनन्द पर पानी डाले। और वह तो धवलसेठ का नौकर था, सो जब मालिक ही मिल जाये, तो नौकर की क्या चाह करना? मुझे तेरी दशा देखकर बहुत दु:ख होता है। अब तू प्रसन्न हो और सेठ को स्वीकार कर तो मैं अभी जाकर उसको भी राजी किये आती हूँ।

मैं वद्ध हुई हूँ, इसलिए मुझे संसार का अनुभव भले प्रकार है। तू अभी भोली-भाली नादान लड़की है, इसलिए मेरे वचन मानकर तू सुख से काल बिता।'' इत्यादि अनेक प्रकार से उस कुटिला दासी ने समझाया। परन्तु जैसे कम्बल पर और कोई रंग नहीं चढ़ता है, उसी प्रकार इस सती के मन पर एक बात भी न जँची अर्थात् उस पापिनी दूती का जादू इस पर नहीं चला।

वह कुलवंती सती उसके ऐसे निन्द्य वचन सुनकर क्रोध से कांपने लगी। और डपटकर बोली - चुप रह, दुष्टा पापिनी! तेरी जीभ के सौ टुकड़े क्यों नहीं हो जाते? धवलसेठ तो मेरे पति का धर्म-पिता और मेरा श्वसुर (पिता के समान) है। क्या पुत्री और पिता का संयोग होता है?

पापिनी! तूने जन्मान्तरों में ऐसे-ऐसे नीच कर्म किये हैं, जिससे रण्डी कुट्टिनी हुई है और न मालूम अब तेरी और क्या गति हो? इस जन्म में रयनमंजूषा का पति केवल श्रीपाल ही है। और पुरुष मात्र, उसके पिता व भाई तुल्य हैं। हट जा यहाँ से, मुझे अपना मुँह मत दिखला, नहीं तो इसका बदला पावेगी। इस प्रकार सुन्दरी ने जब उसे घुड़काया, तब वह अपना-सा मुँह लेकर काँपती हुई, पापी सेठ के पास आयी और बोली-

हे सेठ! अब मेरे वश की नहीं है, मुझे तो उसने बहुत अपमान करके निकाल दिया। यदि थोड़ी देर और ठहरती तो न मालूम वह मेरी क्या दशा करती? इसलिए आप जानो और आपका काम जाने। मुझसे यह काम तो नहीं हो सकता। दूती ऐसा उत्तर देकर चली गयी।

●●●

धवलसेठ का रयनमंजूषा के पास जाना और देव से दण्ड

जब धवलसेठ ने दूती को कृतकार्य हुआ न जाना और निराशा का उत्तर मिल गया, तब उस निर्लज्ज ने स्वयं रयनमंजूषा के पास उसे फुसलाने को जाने का विचार किया। ठीक ही कहा है-

यः कश्चिन् मकरध्वजस्य वशगः, किं ब्रूमहे तत्कृते।
नो लज्जा न च पौरुषं न कुलं, कुत्रास्ति पापान्विते।।
नो धैर्य च पितुगुरोश्च महिमा, कुत्रास्ति धर्मस्थितिः।
नो मित्रं न च बांधवा न च गृहं, ध्वस्तः स्त्रियं पश्यति।।

अर्थात् – जो पुरुष काम के वश हो रहा है, उसकी क्या कहना है? उसको न लज्जा, न बल, न कुल, न धैर्य, न धर्म, न गुरु, न पिता, न मित्र, न भाई और न घर आदि कुछ भी नहीं दिखता। केवल एक स्त्री ही स्त्री उसे दिखा करती है। और भी कहा है–

कामार्तानां कुतः पापं, पापार्थीनां कुतः सुखं।
नास्ति तत्प्राणिनां कर्म्भ, दुःखदं यन्न कामजम्।।
यथा माता यथा पुत्री, यथा भगिनी च स्त्रियः।
कामार्थी च पुमानेता, एकरूपेण पश्यति।।

अर्थात्– कामी नर को क्या पाप नहीं लगता? और पापी को क्या सुख हो सकता है? नहीं, कभी नहीं। देखो, कामी नर माता, बहिन और पुत्री सबको स्त्री के ही रूप में देखता है। इसी प्रकार शीघ्र ही वह पापी कामान्ध सेठ निर्लज्ज होकर उस सती के निकट पहुँचा। वह धर्मधुरन्धर अबला उसे सन्मुख आते देखकर अत्यन्त ही भय और लज्जा से मुरझाये फूल की भाँति हो गयी, और अपना मुँह वस्त्र से ढांक लिया और मन में सोचने लगी कि हा दैव! तू क्या-क्या खेल दिखाता है? एक तो मेरे प्राणवल्लभ भर्तार का वियोग हुआ। दूसरे यह दुर्बुद्धि मेरा शील भंग करने के लिये सन्मुख आ रहा है। हो न हो, मेरे पति को इस पापी ने ही समुद्र में गिराया होगा।

हाय! एक दुःख का तो अन्त नहीं हुआ और दूसरा सामने आया। क्या करूँ? इस समय मेरा कौन सहायी होगा? वह

दासी भी इसी पापी ने भेजी होगी। इन जहाजों में मेरा कोई हितू नहीं दिखता है। हे जिनदेव! अब आप ही का शरण है। मुझे किसी प्रकार पार उतारिए, लज्जा रखिये, तुम अशरण के शरणाधार और निरपेक्ष बन्धु हो! इस प्रकार सोच रही थी कि वह पापी निकट आकर बैठ गया और विष लपेटी छुरी के समान मीठे शब्दों में हंस-हंसकर कहने लगा-

हे प्रिये रयनमंजूषे! तुम भय मत करो। सुनो, मैं तुमसे श्रीपाल की बात कहता हूँ। वह दास था, उसको मैंने मोल लिया था। वह कुलहीन और वंशहीन था। बड़ा प्रपंची, झूठा और निर्दयीचित्त था। ऐसे पुरुष का मर जाना ही अच्छा है। तुम व्यर्थ उसके लिये इतना शोक कर रही हो। अब उसका डर भी नहीं रहा है, क्योंकि उसको गिरे हुए कई दिन बीत चुके हैं, सो जलचरों ने उसके मृत शरीर तक को खा लिया होगा। इसलिए निशंक होओ।

जब कांटा निकल जाता है, तब दुःख नहीं रहता। मुझे उसके साथ तुमको रहते हुए देखकर दुःख होता था कि क्या ऐसी कुलवान और रूपवान कन्या हीन कुलवाले को सेवे। सो यह अन्याय विधाता भी न देख सका और उसने तुम्हारा पल्ला उससे छुड़ा दिया। अब तुम प्रसन्न होओ और मेरी ओर देखो। तुम मेरी स्त्री बनो और मैं तुम्हारा भर्तार बनूँ। मैं तुमको अपनी सब स्त्रियों में मुख्य बनाऊँगा और स्वप्न में भी तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कभी न होऊँगा। अब तुम डर मत करो। शीघ्र ही अपना हाथ मेरे गले में डालो और अपने अमृतमई वचनों से मेरे कानों और मन को

प्रफुल्लित करो। मेरा चित्त तुम्हारे बिना व्याकुल हो रहा है।

हे कल्याणरूपिणी! मृगनयनी! कोमलांगी! आओ और अपने कोमल स्पर्श से मेरा शरीर पवित्र करो। देखो, ज्यों-ज्यों घड़ी जाती है, त्यों-त्यों यौवन का आनन्द कम होता जाता है। कहा भी है कि-

मनुज जनम को पाय कर, कियो न भोग विलास।
व्यर्थ गमायो जन्म तिन, कर आगामी आश।।
खबर नहीं है पलक की, कल की जानै कौन।
जिन छोड़े सुख हाल के, उनसे मूरख कौन।।
सदा न फूलै केतकी, सदा न श्रावण होय।
सदा न यौवन थिर रहै, सदा न जीवै कोय।।

इसलिए हे प्यारी! मुझ प्यासे की प्यास बुझाओ। हम जानते हैं कि नारी बहुत कोमल होती है, पर तुमको क्यों दया नहीं आती? क्यों तरसा रही हो? तुम तो अतिचतुर और बुद्धिमती हो। तुम्हें इतना हठ करना उचित नहीं है। जो कुछ कहना हो दिल खोलकर कहो, मैं सब कुछ कर सकता हूँ, मेरे पास द्रव्य का भी कुछ पार नहीं है। राजाओं के यहाँ जो सुख नहीं, वह मेरे यहाँ है, मेरे ऐश्वर्य के सामने इन्द्र भी तुच्छ है। किन्तु प्यारी! केवल तुम्हारी प्रसन्नता की कमी है, सो पूर्ण कर दो। आओ, दोनों हृदय से मिल लेवें। इत्यादि नाना प्रकार से वह दुष्ट बकने लगा।

परन्तु इस समय उस सती का दुःख वही जानती थी, क्योंकि शीलवती स्त्रियों को शील से प्यारी वस्तु संसार में कुछ भी नहीं

है। वे शील की रक्षा करने के लिये प्राणों को भी न्योछावर कर देती हैं। इसी से ये वचन उसको तीक्ष्ण बाण से भी अधिक चुभ रहे थे। जब उसने देखा कि यह पापी अपनी टें टें लगाये ही जा रहा है और किंचित भी लज्जा, भय व संकोच नहीं करता, तब उसने नीति और धर्म से सम्बोधन करने का उद्यम किया। वह बोली–

''हे तात! आप मेरे स्वामी के पिता और मेरे श्वसुर हो, श्वसुर और पिता में कुछ अन्तर नहीं होता। मैं आपकी पुत्री हूँ। चाहे अचल सुमेरु चल जाए, परन्तु पिता पुत्री पर कुदृष्टि नहीं कर सकता। प्रथम तो अशुभकर्म ने मेरे भर्तार का वियोग कराया और अब दूसरा उससे भी कई गुणा दारुण दु:ख यह तुम देने को उद्यत हो रहे हो। यदि और कोई कहता तो आपसे पुकार करती, परन्तु आपकी पुकार किससे कहूँ! अपने कुल और धर्म को देखो, हाडमाँस व मलमूत्र से भरी घृणित देह को देखकर क्या प्रसन्न हो रहे हो? चमड़े की चादर से ढकी हुई है जिसमें नव द्वारों से दुर्गंध निकलती है, ऐसे घृणित देह पर क्यों मुग्ध हो रहे हो? इसके अतिरिक्त आपके यहाँ देवांगनाओं के सदृश स्त्रियाँ हैं, मैं तो उनके सन्मुख दासीवत् हूँ। बड़े कुलवानों का धर्म है कि अपने और पर के शील की रक्षा करें। देखो, रावण और कीचक आदि पर स्त्री की इच्छा मात्र से इस लोक में अपयश लेकर और नर्क चले गये।

इसलिए पिताजी! आप अपने स्थान पर जाओ और मुझ दीन को व्यर्थ ही सताकर दु:खी मत करो। मुझ असहाय पर कृपा

करो और यहाँ से पधारो।'' परन्तु जैसे पित्तज्वरवाले को मिठाई भी कड़वी लगती है, उसी तरह कामज्वरवाले को धर्म वचन कहाँ रुच सकते हैं?

वह दुष्ट बोला – ''प्राणबल्लभे! यह चतुराई रहने दो। ये सब बातें तो मैं जानता हूँ। यह विचार बूढ़े पुरुषों को कि जिनके शरीर में पौरुष नहीं है, करना चाहिए। हम तुम दोनों तरुण हैं। भला अग्नि के पास घी बिना पिघले कैसे रह सकता है? सो इन व्यर्थ की बातों से क्या होगा? आओ। मिल लो, नहीं तो ये प्राण तुम्हारे न्यौछावर हैं। अब भी यदि कृपा न करोगी तो मेरी हत्या तुम्हारे सिर होगी। अब तुम्हारी इच्छा! मारो, चाहे बचाओ।''

ऐसा कहकर उस पापी ने अपना माथा भूमि पर रख दिया। जब उस सती ने देखा कि यह दुष्ट नीति से नहीं मानता। और अवश्य ही बलात्कार कर मेरा शरीर स्पर्श करेगा, तब उसने क्रोध से भयंकर रूप धारण कर कहा – ''रे दुष्ट पापी निर्लज्ज! तेरी जीभ गल क्यों नहीं जाती! अरे नीचे दुर्बुद्धि निशाचर! तुझे ऐसे घृणित शब्दों को कहते शर्म नहीं आती है! रे धीठ अधर्म क्रूर! तू पशु से भी महान पशु है। तेरी क्या शक्ति है जो शीलधुरंधर स्त्री का शीलहरण कर सके!

यह पतिव्रता अपने प्राणों को जाते हुए भी अपने शील की रक्षा करेगी। तू मेरे प्राण हरण तो कर सकता है, परन्तु मेरे शील को नहीं बिगाड़ सकता। एक वे (श्रीपाल) ही इस भव में मेरे स्वामी हैं और उनकी अनुपस्थिति में संयम ही मेरा रक्षक है। रे

निर्लज्ज! मेरे सामने से हट जा, नहीं तो अब तेरी भलाई नहीं है।''

वह पापी इससे भी नहीं डिगा और आगे को बढ़ा। यह देख उस सती को चेत न रहा। कुछ देर तक वह कठपुतली-सी रह गयी, परन्तु थोड़ी देर में पुन: जोर से पुकारने लगी-हे दीनबन्धु! दयासागर! प्रभो! मेरी रक्षा करो!

शिवनारी भर्तार प्रभु, तुम लग मेरी दौर।
जैसे काग जहाज को, सूझत और न ठौर।।
दीनबन्धु करुणानिधि, धन्य त्रिलोकी नाथ।
शरणागत पाले घने, कीन्हें अनाथ सनाथ।।
सीता, द्रोपदि, अंजनी, मनोरमादिक नार।
विपति समय सुमरी तुमहिं, लीनों तिनहिं उबार।।
अबकी बार पुकार मुझे, सुन लीजे महाराज।
ढील न कीजे क्षणक हूं, राखो मेरी लाज।।
धवलसेठ हो कामवश, लाज दई छुटकाय।
आया शील बिगाड़ने, यहां नहिं कोई सहाय।।
शील नसैं जो आज मुझ, तो मैं त्यागूं प्राण।
यामें शंक न रंच हूँ, यही हमारी आन।।

इस प्रकार वह भगवान की स्तुति करने लगी। अहा! जिसका कोई सहायक न हो और वह सच्चा शीलवान् व्रतवान दृढ़चारित्री हो तो उसकी रक्षा देव करते हैं। उस सती के अखण्ड शील को कौन खण्डन कर सकता था? एक धवल तो क्या, कोटी धवल भी उसका कुछ नहीं कर सकते थे। इसीलिए उसके दृढ़ शील के

प्रभाव से वहाँ तुरन्त ही जलदेव आकर उपस्थित हुआ और उसने धवलसेठ की मुश्कें बाँध लीं तथा गदा से बहुत मार लगायी। बालुरेत आँखों में भर के मुँह काला कर दिया और मुँह में मिट्टी भर दी तथा और भी अनेक प्रकार से निन्द्य कुवचन कहे।

तात्पर्य – उसकी बड़ी दुर्दशा की और बहुत दण्ड दिया। सब लोग एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे परन्तु बतावें किससे? क्योंकि मार ही मार दिख रही थी परन्तु मारनेवाला कोई नहीं दिखता था। अन्त में मन्त्री लोग यह सोचकर कि कदाचित् यह दैवी चरित्र है और इस सती के धर्म के प्रभाव से हुआ है, अतएव रयनमंजूषा के पास आये और हाथ जोड़कर खड़े हो प्रार्थना करने लगे-

हे कल्याणरूपिणी पतिव्रते! धन्य है तेरे शील के माहात्म्य को! हम लोग तेरे गुणों की महिमा कहने को असमर्थ हैं। तू धर्म की धोरी और सच्ची जिनशासन की भक्त और व्रतों में लवलीन है। तेरे भाव को इस दुष्ट ने न समझकर अपनी नीचता दिखाई। अब हे पुत्री! दया कर! इस समय केवल इस पापी का ही विनाश नहीं होता है, परन्तु हम सबका भी सत्यानाश हुआ है। हम सब तेरे ही शरण हैं, हमको बचा। उन लोगों के दीन वचनों को सुनकर सती को दया आ गयी। इसलिए वह क्रोध को छोड़, खड़ी होकर प्रभु की स्तुति करने लगी-

''हे जिननाथ! धन्य हो! जो ऐसे कठिन समय में आपके प्रभाव से इस अबला की धर्मरक्षा हुई। हे प्रभो! तुम्हारे प्रसाद से जिस किसी ने मेरी सहायता की हो, वह इन्हें दया करके छोड़

दे।'' यह सुनकर उस जलदेव ने उसे शिक्षा देकर छोड़ दिया और रयनमंजूषा को धैर्य देकर बोला - ''हे पुत्री! तू चिन्ता मत कर। थोड़े ही दिनों में तेरा पति तुझे मिलेगा और वह राजाओं का राजा होगा। तेरा सम्मान भी बहुत बढ़ेगा। हम सब तेरे आसपास रहनेवाले सेवक हैं, तुझे कोई भी हाथ नहीं लगा सकता है।''

इस तरह वह देव धवलसेठ को उसके कुकर्मों का दण्ड देकर और रयनमंजूषा को धैर्य बँधाकर अपने स्थान को गया और सती ने अपने पति के मिलने का समाचार सुनकर तथा शील रक्षा होने से प्रसन्न होकर प्रभु की बड़ी स्तुति की और अनशन, ऊनोदर आदि तप करके अपना काल व्यतीत करने लगी। वह पापी धवलसेठ लज्जित होकर उसके चरणों में मस्तक झुकाकर बोला - 'हे पुत्री! अपराध क्षमा करो। मैं बड़ा अधम पापी हूँ और तुम सच्ची शीलधुरन्धर हो।' तब सती ने उसको भी क्षमा किया। सत्य है-

उत्तमे क्षणिकः कोपो, मध्यमे प्रहरद्वयं।
अधमस्य अहोरात्रि, नीचस्य मरणान्तकम्।।

अर्थात् - उत्तम पुरुषों का कोप क्षणमात्र (कार्य होने तक), मध्यम पुरुषों का दो प्रहर (भोजन करने तक), जघन्य पुरुषों का दिन-रात और नीचों का मरने तक तथा जन्मान्तरों तक भी रहता है।

●●●

श्रीपाल का गुणमाला से विवाह

अब, इस वृत्तान्त को यहाँ छोड़कर श्रीपाल का हाल कहते हैं। वह महामति जब समुद्र में गिरा, तब ही उसने धवलसेठ के मायाजाल को समझ लिया, परन्तु उत्तम पुरुष बिना साक्षी का निर्णय किये बिना कभी किसी पर दोषारोपण नहीं करते, किन्तु वे अपने ऊपर आये उपसर्ग को अपने पूर्वकृत कर्मों का फल समझकर ही समभावों से भोगने का उद्यम करते हैं। इसलिए उक्त धीर-वीर पुरुष ने अपने भावों को किंचित् भी मलीन नहीं होने दिया और पंच परमेष्ठी मन्त्र का आराधन करके समुद्र में से तिरने का उद्यम करने लगा। ठीक है-

जो नर निज पुरुषार्थ से, निज की करे सहाय।
दैव सहाय करै तिनहिं, निश्चय जानो भाय।।

दैवयोग से उनको उस समुद्र की लहरों में उछलता हुआ एक लकड़ी का तख्ता दृष्टिगत हुआ, सो उसे पकड़कर वे उसी के सहारे तिरने लगे। इनको दिन-रात तो सब समान ही था। खाने-पीने का ठिकाना केवल एक जिनेन्द्र का नाम ही शरण था और वही त्रैलोकी प्रभु उन्हीं मार्ग बतानेवाला था। वह महाबली गम्भीरता और साहस में समुद्र से किसी प्रकार भी कम न था। सो भला समुद्र की शक्ति कहाँ जो उसे डुबा दे? दूसरी बात यह थी कि पत्थर पानी पर नहीं तिर सकता है परन्तु यदि काठ की नाव में मनों पत्थर भर दीजिये तो भी न डूबेगा।

इसी प्रकार वह एक तो चरमशरीरी था। दूसरे जिनधर्मरूपी

नाव पर सवार था, सो भला जो नाव इस अनादि अनन्त संसार से पार उतार सकती है, उस नाव से इतना-सा समुद्र तिरना तो कुछ भी कठिन न था। कहा है-

जल थल बन रण शत्रु ढिंग, गिरि गुह कन्दर मांहि।
चोर अग्नि और वनचरों से, पुण्य हि लेय बचाहि।।

इस प्रकार महामन्त्र के प्रभाव से वे तिरते-तिरते कुम्कुमद्वीप में जाकर किनारे लगे। सो मार्ग के खेद से व्याकुल होकर निकट ही एक वृक्ष के नीचे अचेत हो गये। इतने में ही वहाँ के राजा के अनुचर वहाँ पर आ पहुँचे और हर्षित होकर परस्पर बतलाने लगे कि धन्य है! राजकन्या का भाग्य कि जिसके प्रभाव से यह महापुरुष अपने भुजबल से अथाह समुद्र पार कर यहाँ आ पहुँचा है। अब तो अपने हर्ष का समय आ गया। यह शुभ समाचार राजा को देते ही वे हम सबको निहाल कर देवेंगे।

अहा! यह कैसा सुन्दर पुरुष है? विधाता ने अंग-अंग की रचना बड़ी सम्हाल करके की है। यह यक्ष है कि नागकुमार? या इन्द्र है कि विद्याधर? या गन्धर्व है? इत्यादि परस्पर सब बातें कर ही रहे थे कि श्रीपालजी की नींद खुल गयी। वे लाल नेत्रों सहित उठकर बैठ गये और पूछने लगे-

'तुम लोग कौन हो? यहाँ क्यों आये हो? मुझसे डरते क्यों हो? और क्यों मेरी स्तुति कर रहे हो? सो नि:शंक होकर कहो।' तब ये अनुचर बोले - 'महाराज! इस कुंकुमपुर का राजा सत्तराज और रानी वनमाला है जो अपनी नीति और न्याय से

सम्पूर्ण प्रजा के प्रेमपात्र हो रहे हैं। इस नगर में कोई भी दीन दु:खी दिखायी नहीं देते। इस राजा के यहाँ एक रूप और गुण की निधान, सकल कलाप्रवीण सुशीला गुणमाला नाम की कन्या है। किसी एक दिन राजा ने कन्या को यौवनवती देखकर अवधिज्ञानी श्रीमुनिराज से पूछा था कि-

'हे देव! इस कन्या का वर कौन होगा? तब श्रीगुरु ने अवधिज्ञान के बल से जानकर यह कहा था कि जो पुरुष समुद्र को निज भुजाओं से तिरकर यहाँ आवेगा, वही इसका वर होगा।' उसी दिन से राजा ने हम लोगों को यहाँ पहरे पर रखा है। सो हमारे पुण्योदय से आज आप पधारे हो, आपका स्वागत है। हे प्रभो! चलिये और अपनी नियोगिनी को प्रसन्नतापूर्वक विवाहिये।

इस तरह अनुनय विनयकर कितने ही अनुचर श्रीपालजी को नगर की ओर चलने की विनती करने लगे। और कितनों ने जाकर शीघ्र ही राजा को खबर दी। सो राजा ने हर्षित होकर उन लोगों को पारितोषिक दिया। पश्चात् राजा स्वयं उनकी अगवानी के लिये गये और उबटन, तेल, फुलेल आदि भेजकर श्रीपालजी को स्नान कराया और सुन्दर वस्त्राभूषण धारण कराकर बड़े उत्साह और गाजे-बाजे से मंगलगानपूर्वक उनको नगर में लाये। घर-घर में मंगलगान होने लगा तथा राजा ने शुभ मुहूर्त में निज पुत्री गुणमाला का पाणिग्रहण श्रीपालजी से करा दिया तथा बहुत-सा दहेज नगर, ग्राम, हाथी, घोड़े, सवार, प्यादे और वस्त्राभूषण आदि देकर कहने लगे-

'हे कुमार! मैं आपकी कुछ भी सेवा करने को समर्थ नहीं

हूँ। मैंने तो आपकी सेवा के लिए मात्र यह सेविका (पुत्री को दिखाकर) दी है सो धर्म, अर्थ और काम से इसका पालन कीजिये तथा मुझसे जो कुछ सेवा में कमी हुई हो सो क्षमा कीजिये और सदैव मुझ पर कृपादृष्टि बनाये रखिये।'

तब श्रीपाल ने कहा – 'हे राजन्! मैं तो एक विदेशी पानी में बहता हुआ निराधार, कर्मोदय से यहाँ आया था, सो आपने दया करके जो कन्यारत्न मुझे दिया और सब तरह से मेरा उपकार किया है, सो मैं भूल नहीं सकता। सदैव आपकी सेवा करने को तैयार हूँ।' राजा इस प्रकार का उत्तर सुनकर प्रसन्न हुआ और श्रीपालजी भी वहाँ गुणमाला सहित सुख से समय बिताने लगे, परन्तु जब भी कभी रयनमंजूषा व मैनासुन्दरी की सुध आ जाती तो वे चिन्तित से हो जाते थे।

एक दिन श्रीपालजी इसी प्रकार विचार में बैठे थे कि वहाँ गुणमाला आ गयी और बातों ही बातों में वह पूछने लगी – प्राणनाथ! आपका कुल, वंश, जाति आदि का वर्णन तथा यहाँ तक पहुँचने का कारण भी सुनना चाहती हूँ, सो कृपाकर कहो।

यह बात सुनकर श्रीपाल को हंसी आ गयी और मन में सोचने लगे कि अपना वृत्तान्त इससे कहूँ तो इसको उसका निश्चय कैसे होगा? ऐसा समझ चुप रहे। तब गुणमाला की वह इच्छा और भी बढ़ गयी। इसलिए वह और भी अनुग्रहपूर्वक पूछने लगी कि प्रभो! बताइये तो सही, राज्य आदि विभूति क्यों छोड़ी? और समुद्र में कैसे गिरे? और मगरमच्छादि जीवों से बचकर

किस प्रकार यहाँ तक आये? आपका चरित्र बहुत विचित्र मालूम होता है, इसी से सुनने की इच्छा बढ़ रही है।

तब श्रीपालजी बोले – प्रिये! पानी मेरा पिता, कीचड़ मेरी माता, बड़वानल मेरा भाई और तरंगें मेरा परिवार है, सो उनको छोड़कर तुम्हारे पास मिलने को चला आया हूँ। बस यही मेरा चरित्र है, क्योंकि इससे अधिक और जो मैं कहूँ तो बिना साक्षी यहाँ कौन मानेगा? यह सुनकर गुणमाला विस्मय में पड़ गयी और वह लज्जित हो नीचा सर करके बैठी रही।

निज प्रिया की यह विचित्र दशा देख श्रीपालजी बोले – प्रिये! यदि तुमको मेरा विश्वास हो और सुनना चाहती हो तो सुनो। मैं अंगदेश चंपापुर के राजा अरिदमन का पुत्र हूँ। पूर्वकर्मवश कुष्ठरोगाक्रान्त हो जाने से अपने काका को राज्यभार सौंपकर सात-सौ सखों सहित उज्जैन आया। और वहाँ के राजा पहुपाल की कन्या मैनासुन्दरी से विवाह किया। उस सती की पवित्र सेवा और सिद्धचक्र व्रत के प्रभाव से मेरा और सब वीरों का वह रोग मिटा।

वहाँ से चलकर मैंने एक विद्याधर को उसकी विद्या साधकर दे दी और उससे जलतारिणी तथा शत्रुनिवारिणी दो विद्याएँ भेंटस्वरूप स्वीकार कर, मैं आगे चला। पश्चात् धवलसेठ के पाँच-सौ जहाज समुद्र में अटक रहे थे सो चलाये, तब उसने लाभ का दशांश भाग वचन देकर अपने साथ चलने का आग्रह किया सो उसके साथ चल दिया। रास्ते में एक लक्ष चोरों को

वश किया और उनने रत्नसहित सात जहाज भेंट किये सो लेकर हंसद्वीप में आया।

वहाँ पर जिनालय के वज्रयमी कपाट खोले और वहाँ के राजा की कन्या रयनमंजूषा को परिणयकर तथा उसे साथ ले आगे चला सो कर्मयोग से समुद्र में गिर गया। तब पंच परमेष्ठी मन्त्र की आराधना करता हुआ जिनधर्म के प्रभाव से यहाँ तक आ पहुँचा हूँ। हे प्रिय! यही मेरी कथा है।

गुणमाला स्वामी के मुख से उनका सब वृत्तान्त जानकर बहुत प्रसन्न हुई और ये (श्रीपालजी) अपनी चतुराई से थोड़े ही समय में राजा तथा प्रजा सबके प्रिय हो गये।

●●●

कुंकुमद्वीप में धवलसेठ

कुछ दिनों बाद धवलसेठ के जहाज भी चलते-चलते कुंकुमद्वीप में आये। तब वह वहाँ डेराकर बहुत मनुष्यों सहित अमूल्य-अमूल्य वस्तुएँ लेकर राजा को भेंट करने के लिये गया और यथायोग्य सत्कार कर वे चीजें भेंट की। इससे राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसने भी सेठ का बहुत सम्मान किया। जब इत्र, पान, इलायची वगैरह हो चुकी, तब सेठ की दृष्टि वहाँ पर बैठे राजा श्रीपाल पर पड़ी। सो देखते ही वह फूल की भाँति कुम्हला गया। दीर्घ निश्वास निकलने लगे और चिन्ता से प्रस्वेद निकलने लगा। सुधि-बुधि सब भूल गया। परन्तु यह भेद प्रकट न हो जाये, इसलिए शीघ्र ही अपने आपको सम्हाल कर वह

राजा से आज्ञा माँगकर अपने स्थान पर आया और तुरन्त ही मन्त्रियों को बुलाकर विचारने लगा कि अब क्या करना चाहिए। क्योंकि जिसने मेरे साथ बहुत उपकार किये थे और मैंने उसे ही समुद्र में गिराया था, वह तो अपने बाहुबल से तिरकर यहाँ आ पहुँचा है और न मालूम कैसे, राजा से उसकी पहिचान भी हो गयी है।

तब एक वीर बोला – 'हे सेठ! पुण्य से क्या-क्या नहीं होता है? वह समुद्र भी तिर आया और राजा ने उसे अपनी गुणमाला कन्या भी विवाह दी है।' यह सुन सेठ और भी दु:खी हो गया। ठीक है, दुष्ट मनुष्य किसी की बढ़ती देखकर सहन नहीं कर सकते हैं। तिस पर यह तो श्रीपालजी का चोर है, सो चोर साहू से सदा भयभीत होता ही है। वह मारे भय और चिन्ता से विकल हो गया और भोजन पान सब भूल गया। मन में सोचने लगा कि किसी तरह इसे राजा के यहाँ से अलग करा सकूं तो ही मैं बच सकूंगा। अन्यथा यह अब मुझे जीवित नहीं छोड़ेगा, इसलिए मन्त्रियों! अब कुछ ऐसा ही उपाय करना चाहिए। तब मन्त्री बोले-

सेठ! चिन्ता छोड़ो और उसी दयालु कुमार श्रीपाल की शरण लो तो तुमको कुछ भी कष्ट न होगा और यह भेद भी कोई नहीं जानेगा, परन्तु यह बात सेठ को अच्छी नहीं लगी। इतने में उनमें से एक दुष्ट मन्त्री बोला – सेठ! सिंह के सामने क्या मृग जाकर रक्षा पा सकता है? जिसके साथ आपने भलाई

के बदले बुराई की है, सो क्या वह अवसर मिलने पर तुमको छोड़ेगा? नहीं, कभी नहीं छोड़ेगा!

इसलिए हमारी राय में यह आता है कि भाँडों को बुलाकर उन्हें कुछ द्रव्य का लालच देकर दरबार में भेजो, सो वे श्रीपाल को देखकर बेटा, भाई, पति आदि कहकर लिपट जावें, जिससे राजा उसे भाँडों का पुत्र जानकर प्राणदण्ड दे देगा और हम सब बच जावेंगे। कारण यहाँ तो उसकी जान-पहिचान कुछ है ही नहीं, इसलिए यह बात जम जावेगी।

सेठ को यह विचार अच्छा मालूम हुआ, इसलिए उसने इसे पसन्द कर लिया और वह उस मन्त्री की बुद्धि की सराहना कर कहने लगा - बस ठीक है। अब इस काम में देरी मत करो कि जिससे शत्रु को अवसर मिल सके, नहीं तो वह न मालूम क्या कर डालेगा? यद्यपि साथवालों या अन्य मन्त्रियों ने सेठ को बहुत समझाया कि देखो ऐसा काम न करो, नहीं तो पीछे बहुत पछताओगे और यदि उसका शरण ले लोगे तो तुम्हारा बाल भी बांका न होने पावेगा। परन्तु कहा है-

'जाको विधि दारुण दु:ख देई, ताकी मति पहिले हर लेई'

अर्थात्-बुद्धि कर्मानुसारिणी होती है, इसलिए किसी के कहने या समझाने से क्या हो सकता था?

ठीक है, आपत्ति आने के पहिले ही बुद्धि नष्ट हो जाती है, धर्म से श्रद्धा छूट जाती है, कायरता बढ़ जाती है, सत्य वचन नहीं निकलता, विषय-कषायें बढ़ जाती हैं, शील, संयम, दया,

सन्तोष, विवेक, साहस आदि गुण और धन आदि सब चला जाता है। सो सेठ की भी यही दशा हुई। उसने किसी का कहना नहीं माना और भाण्डों को बुलाकर उन्हें बहुत द्रव्य का लालच देकर समझा दिया कि तुम राजसभा में जाकर अपने खेल दिखाओ, बाद में श्रीपालजी के गले लगकर मिलाप करने लगना और अपना-अपना सम्बन्ध प्रकट करके अपने साथ घर चलने का आग्रह करना और राजा के कहने व पूछने पर इस प्रकार कहना-

महाराज! हम जहाज में बैठे आ रहे थे, सो तूफान से जहाज फट गया और हम लोग किसी तरह किनारे लगे सो और सब तो मिल गये, परन्तु केवल दो लड़के रह गये थे। सो छोटा तो यह आज आपके दर्शन से पाया और एक बेटा जो इससे दो वर्ष बड़ा था, अब तक नहीं मिला है। ऐसा कहकर राजा को बहुत धन्यवाद देने लगना। इस प्रकार समझाकर उन भाँडों को सेठ ने राजसभा में भेज दिया।

●●●

भाँडों का कपट

पश्चात् वे सब भांड मिलकर राज्यसभा में गये और राजा को यथायोग्य प्रणाम कर उन लोगों ने पहले तो अपनी नकलें, खेल इत्यादि करके राजा से बहुत-सा पारितोषक प्राप्त किया, पश्चात् चलते समय सब परस्पर मुँह देखकर अंगुलियों से श्रीपाल की ओर इशारा करके बतलाने लगे। यों ही ढंग बनाकर, थोड़ी देर में ज्यों ही राजा की ओर से श्रीपाल लोगों को पान का

बीड़ा देने के लिये गये और अपने हाथ उठाकर बीड़ा देने लगे, त्यों ही सबके सब भांड अहा! धन्य भाग्य! बिछुड़े मिल गये, ऐसा कहकर उठ पड़े और श्रीपाल को चारों ओर से घेर लिया। कोई बेटा, कोई पोता, कोई पड़पोता, कोई भतीजा, कोई पति इस तरह कह-कहकर कुशल पूछने लगे। और राजा को आशीर्वाद देकर बलैयां लेने लगे, कहने लगे-

अहा! आज बड़ा ही हर्ष का समय मिला जो हमारा बेटा हाथ लगा। हे नरनाथ! तुम युग-युगांतरों तक जीओ! धन्य हो महाराज! प्रजापालक हो! तुमने हम दीनों को आज पुत्रदान दिया है। यह चमत्कार देखकर राजा ने उन भांड़ों से कहा-

तुम लोग सच्चा-सच्चा हाल मेरे सामने कहो! नहीं तो सबको एक साथ सूली पर चढ़ा दूँगा। नीच निर्लज्जो! तुम लोगों को कुछ भी ध्यान नहीं है कि किस कुलीन पुरुष को अपना पुत्र कह रहे हो। तब वे भांड हाथ जोड़, मस्तक झुका, दीन होकर बोले - महाराज, दीनानाथ, अन्नदाता! यह लड़का हमारा ही है। मेरी स्त्री के दो बालक थे, सो एक तो यही है और दूसरे का पता नहीं है। हम सब लोग समुद्र में एक जहाज में बैठे आ रहे थे, सो तूफान से जहाज फट गया और हम लोग किसी प्रकार लकड़ी के पटियों के सहारे कठिनता से किनारे लगे। और सब तो मिल गये परन्तु एक लड़का नहीं मिला है। हे महाराज! धन्य हो! आज आपके दर्शन से सम्पत्ति और सन्तति दोनों ही मिले।

भांडों के कथन सुनकर राजा को बहुत पश्चाताप हुआ कि

हाय! मैंने बिना देखे और कुल जाति आदि पूछे बिना ही कन्या विवाह दी। निस्सन्देह यह बड़ा पापी है कि जिसने अपना कुल, जाति आदि कुछ प्रगट नहीं किया और मुझे धोखा दिया। फिर सोचने लगा- नहीं, इस बात में कुछ भेद अवश्य होना चाहिए; क्योंकि श्रीगुरु ने जिस भांति कहा था, उसी भांति यह पुरुष प्राप्त हुआ है और हीन पुरुष कैसे ऐसे अथाह समुद्र को पार कर सकता है? इसके सिवाय इन भांडों का और इसका रंग, रूप, बर्ताव भी तो बिल्कुल नहीं मिलता है। दैव जाने क्या भेद है? फिर कुछ सोचकर श्रीपाल से पूछने लगे-

अहो परदेशी! तुम सत्य कहो कि तुम कौन हो? और भांडों से तुम्हारा क्या सम्बन्ध है? तब श्रीपाल ने सोचा - यहाँ मेरे वचन की साक्षी क्या है? ये बहुत और मैं अकेला हूँ। बिना साक्षी कहने से न कहना अच्छा है। यह सोचकर वह धीर, वीर निर्भय होकर बोला - महाराज! इन लोगों का ही कथन सत्य है। ये ही मेरे माँ-बाप और स्वजन सम्बन्धी हैं।

राजा को श्रीपाल के इस कथन से क्रोध उबल पड़ा और उन्होंने तुरन्त ही बिना विचारे चांडालों को बुलाकर इनको शूली पर चढ़ा देने की आज्ञा दे दी। सत्य है, न जाने किस समय किसको कौन कर्म उदय आकर दुःख देता है और क्या-क्या चमत्कार दिखाता है!

●●●

शूली की तैयारी

राजा की आज्ञा से चाण्डालों ने श्रीपाल को बाँध लिया और शूली देने के लिये ले चले। तब श्रीपाल सोचने लगे कि यदि मैं चाहूं तो इन सबको क्षणभर में संहार कर डालूँ, परन्तु ऐसा करने से भी क्या सुकुलीन कहा जा सकता हूँ? कदापि नहीं, इसलिए अब उदय में आये हुए कर्मों को सहन करना ही उचित है, जिससे फिर आगे के लिये ये शेष न रहें। देखूं, अभी और क्या-क्या होता है? इस तरह सोचते हुए वे चाण्डालों के साथ जा रहे थे कि किसी राजमहल की दासी ने यह सब समाचार गुणमाला से जाकर कह दिया। सुनते ही वह मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़ी। जब सखियों ने शीतोपचार करके मूर्छा दूर की तो हे स्वामिन्! हे प्राणाधार! कहकर चिल्ला उठी और दीर्घ निश्वास डालती हुई तुरन्त ही श्रीपाल के निकट पहुँची और उन्हें देखते ही पुन: मूर्छित होकर गिर पड़ी।

जब मूर्छा दूर हुई तो भयभीत मृगी की भाँति सजल नेत्रों से पति की ओर देखने लगी और आतुर हो पूछने लगी-

स्वामिन्! मुझ दासी पर कृपा कर सत्य-सत्य कहो कि आप कौन और किसके पुत्र हैं? और इन भांडों ने आप पर कैसे यह मिथ्या आरोप किया है?

तब श्रीपाल बोले - प्रिये! मेरा पिता भांड और माता भांडिनी और सब कुटुम्ब भांड है और इसकी हाल में साक्षी भी हो चुकी है, फिर इसमें सन्देह भी क्या है? तब गुणमाला बोली

– हे नाथ! यह समय हास्य करने का नहीं है। कृपाकर यथार्थ कहिये। पहिले तो मुझसे कुछ और ही कहा था और मुझे उसी पर विश्वास है, परन्तु यह आज मैं कुछ विचित्र ही चमत्कार देख रही हूँ। मुझे विश्वास नहीं होता कि आपके माता-पिता भांड हों। आपका नाम, काम, रूप, शील और साहस, दया, क्षमा, सन्तोष, धीरज, बल और गम्भीरता आदि गुण कुछ भी उनमें नहीं हो सकते हैं। फिर आपको उनकी सन्तान कैसे कहा जाय? आपको जिनदेव की दुहाई है। सत्य-सत्य कहिये, क्योंकि कहा है –

या पुंसि देदीप्यमानसुभगे ह्यारोग्यता जायते।
गंभीरं भववर्जितं गुणनिधिं सन्तोषजातं चिरं।।
विख्यातं शुभनामजातिमहिमा धैर्याद्युदारक्षमं।
नेत्रानन्दकरो न भूमिपतिजो हीने कुले जायते।।

अर्थात् – सुन्दर, रूपवान, निरोगी, गम्भीर, भयरहित, गुणनिधि, सन्तोषी, शुभनामवाला, कीर्तिवान् और नेत्रों को आनन्द देनेवाला ऐसा पुरुष हीन कुल में कैसे जन्म ले सकता है? कदापि नहीं ले सकता।

तब श्रीपालजी बोले – प्रिये! तुम चिन्ता मत करो और अपना शोक दूर करो। समुद्र के किनारे जो जहाज ठहरे हैं, उनमें एक रयनमंजूषा नामक सुन्दरी है, जिसकी वार्ता पहिले तुमसे कह चुका हूँ, सो तुम उससे जाकर मेरा सब वृत्तान्त पूछ लो। वह जानती है, वही तुमसे सब कहेगी। यह सुनते ही वह सती

शीघ्र ही समुद्र किनारे गयी और रयनमंजूषा! रयनमंजूषा!! करके वहाँ पुकारने लगी। तब रयनमंजूषा ने सुनकर विचारा-

यहाँ परदेश में मुझसे कौन परिचित है? चलो, देखें तो सही कौन है? और क्यों बुला रही है? यह सोच, वह जहाज के ऊपर आकर देखने लगी, तो सामने एक अति सुकुमारी स्त्री को रुदन करती हुई पाई, जो स्वामी स्वामी का ही भजन कर रही है और जिसका शरीर धूल से धूसरित हो रहा है। तथा अस्तव्यस्त दशा में खड़ी है। उसे देख रयनमंजूषा करुणामय स्वर से बोली-

हे बहिन! तू क्यों रो रही है और क्यों इतनी अधीर हो रही है? तू कौन है? और यहाँ कैसे आई?

गुणमाला को इसके वचनों से कुछ धैर्य हुआ। वह अपने को सम्हाल करके बोली - स्वामिनी! मेरे पिता ने मुनिराज से पूछा था कि जो पुरुष निज बाहुबल से समुद्र तिरकर यहाँ आवे, वही तेरी कन्या का पति होगा, सो ऐसा ही हुआ कि यहाँ कुछ दिन हुए एक पुरुष श्रीपाल नाम का महातेजस्वी, रूप में कामदेव के समान, धीरवीर, महाबली, निज बाहुबल से समुद्र तिरकर आया और मेरे पिता (यहाँ के राजा) ने उसके साथ मेरा पाणिग्रहण भी करा दिया। इस प्रकार बहुत दिन हम दोनों आनन्द से रहे परन्तु आज बहुत से भांड राज्यसभा में आये और अपनी चतुराई से राजा को प्रसन्नकर पारितोषिक प्राप्त किया। पश्चात् उन्होंने मेरे पति को देखकर पकड़ लिया। और पुत्र-पुत्र कहकर चुम्बन करने लगे, बलैयां लेने लगे और राजा से कहने लगे कि यह तो हमारा पुत्र है।

तब राजा को बहुत दु:ख हुआ और उन्हें हीन कुलवाला जानकर शूली की आज्ञा दे दी है। इसलिए स्वामिनी! तुम इसके विषय में जो कुछ जानती हो तो कृपा कर कहो, ताकि मेरे स्वामी की प्राण रक्षा हो। मुझ अनाथ को पति-भिक्षा देकर सनाथ करो! तब रयनमंजूषा बोली - हे बहिन! तू शोक मत कर। वह पुरुष चरमशरीरी महाबली है, उत्तम राजवंशीय है, मरनेवाला नहीं है। चल, मैं तेरे पिता के पास चलती हूँ और वहीं सब वृत्तान्त कहूँगी।

●●●

रयनमंजूषा का श्रीपाल को छुड़ाना

रयनमंजूषा श्रीपाल का नाम सुनते ही हर्ष से रोमांचित हो गयी और लम्बे-लम्बे पांव बढ़ाती हुई शीघ्र ही राजसभा में आकर पुकार करके प्रार्थना करने लगी कि - हे महाराज! प्रजापालक दीनबन्धु! दयासागर! न्यायावतार! कृपा करके हम दीनों की प्रार्थना पर भी कुछ ध्यान दीजिये। अन्याय हुआ जा रहा है। बिना विचार ही एक निर्दोष व्यक्ति की हत्या कर हम दीन अबलाओं को आप अनाथ बना रहे हैं। राजा ने उनकी पुकार सुनकर सामने बुलाया और पूछा-

हे सुन्दरियों! तुम क्या कहना चाहती हो? तुमको नि:कारण किसने सताया है? शीघ्र कहो। तब वे दोनों हाथ जोड़कर बोलीं - महाराज! हमारे पति श्रीपाल को निष्कारण शूली हो रही है, इसका न्याय होना चाहिए।

राजा ने कहा - सुन्दरियों! यह राजवंश का अपराधी है। यह वंशहीन भांडों का पुत्र होकर के भी यहाँ वंश छिपाकर रहा और मुझे धोखा दिया है, इसलिए उसे अवश्य ही शूली होगी।

रयनमंजूषा बोली - महाराज! यह एक-अंगी न्याय है। एक ओर की बात मिश्री से भी मीठी होती है, परन्तु प्रतिवादी के लिये तीक्ष्ण कटारी है, इसलिए पहिले विचार कीजिये और फिर जो न्याय हो सो कीजिये। हम तो न्याय चाहती हैं। राजा ने रयनमंजूषा से कहा - अच्छा! तुम इस विषय में कुछ जानती हो तो कहो।

तब रयनमंजूषा ने कहा – हे नरनाथ! यह अंगदेश चंपापुरी के राजा अरिदमन का पुत्र है और उज्जैन के राजा पहुपाल की रूपवती और गुणवती कन्या मैनासुन्दरी का पति है। यह वहाँ से चलकर रास्ते में बहुत जनों को वश करता हुआ हंसद्वीप आया और वहाँ के राजा कनककेतु की पुत्री मुझ रयनमंजूषा का पाणिग्रहण किया। पश्चात् आगे चला, सो जहाजों के स्वामी धवलसेठ की मुझ पर कुदृष्टि हुई, जिससे उसने छलकर मेरे पति को समुद्र में गिरा दिया तथा मेरा शील भंग करने का उद्यम किया, सो शील धर्म के प्रभाव से किसी जलदेव ने आकर मेरा उपसर्ग दूर किया और सेठ को बहुत दण्ड दिया। उस समय देव ने मुझसे कहा था कि पुत्री! तू चिन्ता मत कर, शीघ्र ही तेरा स्वामी तुझे मिलेगा और वह बड़ा राजा होगा; सो महाराज! अब तक मेरे प्राण इसी आशा पर ही टिक रहे हैं। अब आपके हाथ बात है, सो करुणाकर या तो हमारे पति की रक्षा कीजिए या हमारा भी अन्त निज नेत्रों से देखिए।

राजा रयनमंजूषा से यह वृत्तान्त सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और अपने अविचारीपन पर पश्चात्ताप करता हुआ तुरन्त ही श्रीपाल के पास गया और हाथ जोड़कर विनती करने लगा – हे कुमार! मेरी बहुत भूल हुई, अतः मुझे क्षमा करो। मैं अधम हूँ जो बिना ही विचारे यह अनर्थ कार्य किया। अब मुझ पर दया करके घर पधारो।

तब श्रीपाल ने कहा – महाराज! संसार में यह कर्म ही जीवों को अनादि काल से कभी सुख और कभी दुःख दिया

करता है। इसमें आपका कुछ दोष नहीं है। मेरे ही पूर्वोपार्जित पाप कर्मों का अपराध है। जैसा किया, वैसा पाया। अच्छा हुआ जो वे कर्म छूट गये। मेरा इतना ही भार कम हुआ। मुझे तो कुछ भी इसका हर्ष-विषाद नहीं है। जो हुआ सो ठीक ही हुआ। गई बात का पछतावा ही क्या? हाँ, इतनी बात अवश्य है कि आप जैसे समीचीन पुरुषों को प्रत्येक कार्य सदैव विचारपूर्वक ही करना चाहिए। कहा है कि-

किं विद्याधरबादनादनिपुणोद्धारः कृतो धैर्यवान्।
किं योगीश्वरकाननं च कथितं ध्यानं धृतं केवलम्।।
किं राज्यं सुरनाथतुल्यभवतो भूमंडले विद्यते।
यच्चित्तं च विवेकहीनमनिशं दुःखं च पुंसोधिकम्।।

अर्थात् - विद्याधर की गन्धर्वादि विद्याएँ, योगीश्वरों का वन में अचल ध्यान और स्वर्ग समान समस्त पृथ्वी का राज्य भी विवेक बिना निष्फल है।

राजा ने लज्जा से सिर नीचा कर लिया और श्रीपाल को गजारूढ़ कर बड़े उत्साह से राजमहल को ले आये। नगर में घर-घर मंगलनाद होने लगा और हर्ष मनाया जाने लगा। श्रीपाल जब महल में आये तो दोनों स्त्रियों ने प्रेमपूर्वक पति की वन्दना की और परस्पर कुशल पूछकर अपना-अपना सब वृत्तान्त कहा तथा उनको सुनकर चित्त को शान्त किया और वे आनन्द से समय बिताने लगे।

राजा ने सेवकों को भेजकर धवलसेठ को पकड़ बुलाया, सो राजकीय नौकर उसे मारते-पीटते तथा बड़ी दुर्दशा करते हुए

राजसभा तक लाये। तब राजा ने उस समय श्रीपालजी को भी बुलाया और कहा – देखो, इस दुष्ट ने अपने महोपकारी आप जैसे धर्मात्मा नररत्न को निष्कारण बहुत सताया है, इसलिए अब इसका शिरच्छेद करना चाहिए। यह सुनकर और सेठ की दुर्दशा देखकर श्रीपाल को दु:ख हुआ। वे राजा से बोले – महाराज! यह मेरा धर्मपिता है। कृपा कर इसे छोड़ दीजिये। इसने मेरे साथ जो भी अवगुण किये हैं, वे मेरे लिये तो गुणस्वरूप ही हो गये हैं। मुझे तो इनके ही प्रसाद से आपके दर्शन हुए और अतुल सुख प्राप्त किया। यदि ये मुझे समुद्र में न गिराते तो मैं यहाँ तक न आता और न गुणमाला जैसी महिलाभूषण को ब्याहता।

इस प्रकार से राजा ने श्रीपाल के कहने से सेठ और उसके सब साथियों को छोड़ दिया तथा आदरपूर्वक पंचामृत भोजन कराकर बहुत सुश्रूषा की।

धवलसेठ ने श्रीपालजी की यह उदारता, दयालुता तथा गम्भीरता देखकर लज्जित हो नीचा सिर कर लिया और श्रीपाल की बहुत स्तुति की। मन ही मन पश्चात्ताप करने लगा – हाय! मैंने इसको इतना कष्ट दिया, परन्तु इसने मुझ पर भलाई ही की। हाय! मुझ पापी को अब कहाँ ठौर मिलेगी? इस प्रकार पछता कर ज्यों ही उसने दीर्घ उच्छास ली कि उसका हृदय फट गया और तत्काल प्राणपखेरू उड़ गये। और वह मरकर पाप के उदय से नरक चला गया। यहाँ श्रीपाल को सेठ के मरने का बड़ा दु:ख हुआ। उन्होंने सेठानी के पास जाकर बहुत शोक प्रदर्शित किया। पश्चात् उसे धैर्य देकर कहने लगा–

माताजी! होनी अमिट है, तुम दु:ख मत करो, मैं तुम्हारा आज्ञाकारी पुत्र हूँ, जो आज्ञा हो, सो ही करूँ। यहाँ रहो तो सेवा करूँ और देश व गृह पधारो तो पहुँचा दूँ। सब द्रव्य आप ही का है, शंका मत करो, मैं तुम्हारा पुत्र हूँ। तब सेठानी बोली – हे पुत्र! तुम अत्यन्त दयालु और विवेकी हो। जो होना था, सो हुआ, अब आज्ञा दो तो मैं घर जाऊँ। तब श्रीपाल ने उनकी इच्छा प्रमाण उसको यथायोग्य व्यवस्था करके विदा किया और आप वहाँ सुख से दोनों स्त्रियोंसहित रहने लगे।

●●●

श्रीपालजी का चित्ररेखा से विवाह

एक दिन श्रीपालजी अपनी दोनों स्त्रियोंसहित आनन्द में मग्न हुए बैठे थे कि दरवान ने आकर खबर दी कि महाराज द्वार पर एक राजदूत आपको याद कर रहा है, आज्ञा हो तो बुलावें। श्रीपाल ने उसे आने की आज्ञा दी, तब वह दूत भीतर आया और नमस्कार कर विनयपूर्वक बोला–

हे महाराज! यहाँ से थोड़ी दूर धन, कण, कंचन से परिपूर्ण एक कुण्डलपुर नाम का बहुत बड़ा नगर है। वहाँ का राजा मकरकेतु अत्यन्त दयालु और ऐसा प्रजापालक है कि जिसके राज्य में कोई दीन, दु:खी मिलते ही नहीं हैं। उस राजा के यहाँ कपूरतिलका नाम की रानी के गर्भ से उत्पन्न चित्ररेखा नाम की एक अत्यन्त रूपवती और शीलवती कन्या है। सो राजा ने एक दिन कन्या को यौवनवती देखकर श्री मुनि से पूछा था कि इस कन्या का वर कौन होगा?

तब श्रीगुरु ने उसका सम्बन्ध आप से होना बताया है, इसलिए कृपाकर आप वहाँ पधारिये और अपनी नियोगिनी कन्या को विवाहिये। मैं श्रीमान को लेने के लिये ही आया हूँ, यह सन्देश सुनकर श्रीपाल को बड़ा हर्ष हुआ और दूत को बहुत पारितोषिक दिया। पश्चात् आप अपनी दोनों स्त्रियों से विदा होकर कुण्डलपुर गये।

दूत ने इनको नगर के बाहर ठहराकर राजा को समाचार दिया, तो राजा बड़ी सजधज के साथ इनकी अगवानी को आया और आदर से नगर में ले गया। पश्चात् इनका कुल, गोत्रादि पूछकर अपनी चित्ररेखा नाम की सुन्दर गुणवती कन्या का विवाह शुभ मुहूर्त में इनके साथ परमेष्ठी मन्त्र की पूजाविधिपूर्वक पंचों की साक्षी से कर दिया। सब नगर में बहुत आनन्द मनाया गया। इस प्रकार श्रीपालजी चित्ररेखा से विवाह कर आनन्दसहित वहाँ रहने लगे।

●●●

श्रीपाल का अनेक राजपुत्रियों से विवाह

एक दिन श्रीपाल चित्ररेखासहित मधुर भाषण करते हुए बैठे थे कि कंचनपुर का राजदूत आया और श्रीपालजी से नमस्कार कर बोला – 'हे स्वामिन्! सुनो, कंचनपुर के राजा वज्रसेन और उनकी रानी कंचनमाला है, जिसके गर्भ से सुशील, गन्धर्व, यशोधर और विवेक ऐसे चार पुत्र बड़े गुणवान और साहसी हुए हैं। तथा विलासमती आदि नव-सौ पुत्रियाँ रूप लावण्यताकर पूर्ण हैं,

सो एक दिन जब राजा ने निमित्तज्ञानी से इनका सम्बन्ध पूछा, तब उसने उनका विवाह आपके साथ होना बताया था; इसलिए आप कृपाकर शीघ्र ही पधारिये।' यह सुन श्रीपाल प्रसन्न होकर श्वसुर की आज्ञा ले कंचनपुर गये और वहाँ उन नव-सौ कन्याओं के साथ आनन्द से रहने लगे। वहाँ पर कुछ दिन ही हुए थे कि कुंकुमपुर का एक दूत आया और बोला-

महाराज! हमारे यहाँ का राजा यशसेन महायशस्वी और पुण्यवान है। उसके गुणमाला आदि चौरासी स्त्रियाँ हैं और स्वर्णबिम्ब आदि पाँच पुत्र तथा शृंगारगौरी आदि सोलह-सौ कन्यायें हैं, उनमें आठ कन्यायें मुख्य हैं, जो समस्याएँ कहती हैं। इसलिए जो कोई उनकी समस्याओं की पूर्ति करेगा, सो ही उन सबको विवाहेगा। आज तक अनेकों राजपुत्र आये परन्तु वे उनकी समस्याओं की पूर्ति यथोचित् नहीं कर सके। इसलिए आप वहाँ पधारिये, यह कार्य कदाचित् आपसे ही हो सकेगा।' यह सुन श्रीपालजी प्रसन्न हो, श्वसुर की आज्ञा लेकर कुंकुमपुर में पहुँचे, सो वहाँ के राजा यशसेन ने इनका आदरसहित स्वागत किया और अच्छे स्थान में डेरा कराया। सब नगर में मंगलगान होने लगा और जब उन राजकन्याओं ने यह समाचार पाया तो बड़े हर्षसहित उत्तम उत्तम वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर इनसे मिलने आईं और इनका अनुपम रूप देखते ही मोहित हो गयीं।

श्रीपालजी ने उनको आते देखकर यथायोग्य सन्मानसहित बैठने की आज्ञा दी और कहा - हे सुन्दरियों! आप अपनी-अपनी समस्याएँ कहिए।

तब प्रथम ही शृंगार गौरी बोली–

समस्या – 'जहं साहस तहं सिद्धि'।।१।।

पूर्ति – सत शरीरा आय ते, दई आय तिय बुद्धि।
कब हूँ न साहस छोड़िये, जहं साहस तहं सिद्धि।।१।।

तब दूसरी सुवर्णगौरी बोली–

समस्या – 'गोपे खंतह सव्व'।।२।।

पूर्ति – धम्म न विलसो धननि, कृपण है संचय दव्व।
जूवा रायपले वणो, गोपे खन्तह सव्व।।२।।

अब तीसरी पौलोमीदेवी बोली–

समस्या – 'ते पंचायण सीह'।।३।।

पूर्ति – शील विहूना जे वि नर, तिनकी मैली देह।
ते चारित्ता निर्मला, ते पंचायण सीह।।३।।

तब चौथी सुहागगौरी बोली–

समस्या – 'तासु काचरा मीठ'।।४।।

पूर्ति – रयनागर छोड़ो चबे, दादुर कुवे वईठ।
जिंह श्रीफल नहीं चाखिया, तासु काचरा मीठ।।४।।

तब पाँचवीं सोमकला बोली–

समस्या – 'कास पिवाऊं खीर'।।५।।

पूर्ति – रावण विद्या साधियो, दशमुख एक शरीर।
माई संशय पड़ रही, कास पिवाऊं खीर।।५।।

तब छठवीं शशिरेखा बोली–

समस्या – 'सो मैं कहुँ न दीठ'।।६।।

पूर्ति – सातों सागर हूँ फिरो, जम्बूद्वीप पईठ।
शांत पराई जो करे, सो मैं कहुँ न दीठ।।६।।

तब सातवीं संपदादेवी बोली–

समस्या – 'काई बिठियो तेण'।।७।।

पूर्ति – कुन्ती जाये पंच सुत, पांचों पंच सयेण।
गंधारी सो जाईया, काई बिठियो तेण।।७।।

तब आठवीं पद्मावती बोली–

समस्या – 'सो तसु काय करेय'।।८।।

पूर्ति – सत्तर जासु च उगणी, परी पावली णेय।
अक्षर पास बइठड़ीं, सो तसु काय करेय।।८।।[१]

इस प्रकार जब आठों समस्याओं की पूर्ति हो चुकी, तब सब कुटुम्ब को बड़ा आनन्द हुआ। और तुरन्त ही शुभ मुहूर्त में राजा यशसेन ने अपनी सोलह सौ गुणवती कन्याएँ विधिपूर्वक श्रीपालजी को विवाह दीं। श्रीपालजी कुछ दिन तक विवाह के बाद वहाँ ही रहे और सुख से समय व्यतीत किया। पश्चात् एक दिन सोच-विचारकर राजा के पास आकर आज्ञा ली और सोलह-सौ स्त्रियों की विदा कराकर वहाँ आये, जहाँ नव-सौ स्त्रियाँ थीं और वहाँ के राजा से भी घर जाने की आज्ञा माँगी।

तब राजा ने कहा – 'हे गुणधीर! आपके प्रसंग से मुझे बड़ा

१. अनेक विद्वानों से सम्पर्क करने के बाद भी इन छन्दों का सन्तोषप्रद अर्थ नहीं जाना जा सका, अत: इन्हें ज्यों का त्यों रख दिया है।

आनन्द होता है, इसलिए कृपाकर कुछ दिन और भी इस स्थान को पवित्र करो।' तब श्रीपाल ने श्वसुर का कहना मानकर कुछ दिन और भी वहाँ निवास किया। पश्चात् वहाँ से भी सब स्त्रियों को विदा कराकर कंचनपुर आये और वहाँ से चित्ररेखा की विदाई कराई और पुण्डरीकपुर आकर कोकण देश की दो हजार कन्याएँ विवाहीं, फिर मेवाड़ (उदयपुर) की सौ कन्याएँ विवाहीं, फिर तैलग देश की एक हजार विवाहीं, पश्चात् कुंकुमद्वीप में आये और गुणमाला तथा रयनमंजूषा से मिलकर वहीं पर कुछ समय तक विश्राम किया। सुख के समय जाते मालूम नहीं पड़ता है, सो बहुत-सी रानियों सहित क्रीड़ा करते हुए सुख से काल व्यतीत करने लगे।

●●●

श्रीपाल का उज्जैन को प्रयाण

एक दिन राजा श्रीपाल रात्रि को सुख से नींद ले रहे थे कि अचानक नींद खुल गई और मैनासुन्दरी की सुध में बेसुध हो गये। वे सोचने लगे - 'ओहो! अब तो बारह वर्ष में थोड़े ही दिन शेष रह गये हैं। सो यदि मैं अपने कहे हुए समय पर नहीं पहुँचूंगा तो फिर वह सती स्त्री नहीं मिलेगी, इसलिए अब शीघ्र ही वहाँ चलना चाहिए, क्योंकि इतना जो ऐश्वर्य मुझे प्राप्त हुआ है, यह सब उसी के कारण से हुआ है, सो मैं यहाँ सुख भोगूं और वह वहाँ मेरे विरह से संतृप्त रहे। यह उचित नहीं है, इसी विचार से रात्रि पूरी हो गयी।

प्रात:काल होते ही नित्य क्रिया से निवृत्त होकर वे राजा के पास गये और सब वृत्तान्त कहकर घर जाने की आज्ञा माँगी। तब राजा सोचने लगे कि जाने की आज्ञा देते हुए तो मेरा जी दुखता है, परन्तु हठपूर्वक रखना भी अनुचित है। ऐसा विचारकर अपनी पुत्री समेत श्रीपाल की अन्य समस्त स्त्रियों को बहुत से वस्त्राभूषण पहिनाकर उन्हें विदा करते समय इस प्रकार हित शिक्षा दी –

'हे पुत्रियों! यह पुरुष बड़ा तेजस्वी, वीर, कोटीभट्ट है। तुम्हारे पूर्व पुण्य से ही ऐसा पति मिला है। सो तुम मन, वचन, काय से इनकी सेवा करना। सासु आदि गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना, परस्पर प्रीति से रहना, छोटों और दीन दुखियों पर सदा करुणाभाव रखना। कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की स्वप्न में भी आराधन न करना। जिनदेव, जिनगुरु और जिनधर्म को कभी मत भूलना। इस प्रकार से दोनों कुल की लाज रखना।' इत्यादि शिक्षा देकर विदा किया।

वहाँ से चलते-चलते वे सोरठ देश में आये और वहाँ के राजा की कन्याएँ विवाहीं। वहाँ से चलकर गुजरात देश में आये और वहाँ के राजा की भी पाँच सौ कन्याएँ विवाहीं। फिर महाराष्ट्र देश में आये और वहाँ चार-सौ कन्याएँ विवाहीं। फिर वैराट देश में आकर दो सौ कन्याएँ विवाहीं।

इस प्रकार श्रीपालजी बहुत-सी रानियों और बड़ी सेना सहित उज्जैन के उद्यान में आये, जहाँ इनका कटक नगर के चारों ओर ठहर गया। वहाँ घोड़ों की हींस, हाथियों की चिंघाड़, बैलों की डकार, ऊंटों की बलबलाहट, रथों की गड़गड़ाहट,

प्यादों की खटखटाक, बाजों की भनभनाट और भेरी की भीमनाद आदि से बड़ा घमासान कोलाहल होने लगा। जलचर भय के मारे जल में छिपे रहे और वनचर स्थान छोड़-छोड़कर भाग गये। नभचर भी आकाश में स्थानभ्रष्ट हुए इधर-उधर शब्द करते डोलने लगे। नगर में भी बड़ी हलचल मच गयी। कायर पुरुषों के हृदय कांपने लगे। वे सोचने लगे कि अवसर पाकर चुपके से हम लोग निकल चलें। ऐसी नामवरी में क्या रखा है जो प्राण जाय? कहीं जंगल में छिप-छिपाकर दिन बिता देंगे। कृपण पुरुष धन को बाँध-बाँध जमीन में गाड़ने लगे। चोर लुटेरे लूट का अवसर देखने लगे, विषयीभावी विरह के दु:ख का अनुभव करने लगे। शूरवीर अपने हथियार निकालकर मांजने लगे। वे सोचने लगे - हमारे आज राज्य के नमक खाने का बदला देने का शुभ दिन आ पहुँचा है।

विद्वज्जन तो संसार के विषय-कषायों से विरक्त हो द्वादशानुप्रेक्षा का चिन्तवन करने लगे। वे सोचने लगे - उपसर्ग दूर हो तो संयम लें और सदैव के लिये इस जंजाल से छूटें। बहुत से लोग सचिन्त होकर राजा के पास दौड़े और पुकारने लगे - हे महाराज! न जाने कहाँ का कौन राजा अपने नगर पर चढ़ आया है, सो रक्षा करो। राजा भी बड़े विचार में पड़ गये और मन्त्रियों को बुलाकर सलाह करने लगे। मन्त्री भी अपनी-अपनी राय बताने लगे। इसी प्रकार सोचते-सोचते संध्या हो गयी, इसलिए राजा भी सेना को तैयार रहने की आज्ञा देकर आप अन्त:पुर को चले गये।

●●●

श्रीपाल का कुटुम्ब-मिलाप

जब रात्रि हो गयी और सब लोग सो गये, तब श्रीपालजी ने सोचा कि मैंने १२ वर्ष का वादा किया था, सो आज ही पूर्ण होता है। यदि मैं इसी समय मैनासुन्दरी से नहीं मिलता हूँ तो वह भोर होते ही दीक्षा ले लेगी और फिर निकट आकर भी वियोग का दु:ख सहना होगा। इसी विचार से उसे क्षण-क्षण भारी मालूम होने लगा और इसलिए वह महाबली पिछली रात्रि को अकेला ही उठकर चला, सो शीघ्र ही माता कुन्दप्रभा के महल के पास पहुँचा और द्वार पर जाकर खड़ा हो गया, तो क्या सुनता है कि प्राणप्यारी मैनासुन्दरी अपनी सासु के समीप बैठी हुई इस प्रकार कह रही है -

माताजी! आपके पुत्र तो अब तक नहीं आये और १२ वर्ष पूर्ण हो गये। इसलिए मैं अब प्रात:काल ही जिनेश्वरी दीक्षा लूंगी। मुझे आज्ञा दीजिए। इतने दिन मेरे आशा ही आशा में बीत गये। अब व्यर्थ समय बिताना उचित नहीं है। न पति का ही सम्मिलन हुआ और न संयम ही ग्रहण किया तो नर जन्म व्यर्थ ही गया समझो और उनका दिया हुआ भी वचन पूर्ण हो गया है। कहा है -

प्रसरी या संसार में, आशा पास अपार।
बंधे प्राणी छूटे नहीं, दु:ख पावें अधिकार।।

सो उनके आने की अब कुछ आशा नहीं दिखती है, क्योंकि परदेश की बात है। न जाने स्वामी राह भूल गये या किसी स्त्री के वश होकर मेरी याद भूल गये अथवा अन्य ही कोई कारण

हुआ, क्योंकि अब तक कुछ सन्देश भी तो नहीं मिला है, इसी से और भी चित्त व्याकुल हो रहा है। माताजी! अब तक आपकी जो सेवा बन सकी, सो यदि उसमें मेरी भूल और अज्ञानता से यदि त्रुटि हुई हो तो क्षमा करो और दयाकर आज्ञा दो कि मैं शीघ्र ही सकल संयम धारण करूं। अब विलम्ब करने से मेरी आयु का अमूल्य समय व्यर्थ जाता दीखता है।

तब कुन्दप्रभा बोली-पुत्री! दो-चार दिन तक और भी धैर्य रखो। यदि इतने में वह (मेरा पुत्र) न आवेगा तो मैं और तू दोनों ही साथ-साथ दीक्षा ले लेवेंगे, परन्तु मुझे आशा ही नहीं किन्तु पूर्ण विश्वास है कि वह धीर, वीर अवश्य ही इतने में आवेगा। तब सुन्दरी बोली-

माताजी! यह तो सत्य है कि स्वामी अपने वचन के पक्के हैं परन्तु कर्म बड़ा बलवान है। क्या जाने स्वामी को कौन सी पराधीनता आ गयी है, इससे नहीं आये। बिना सन्देश मैं कैसे निश्चय करूं कि वे इतने दिनों में आ ही जावेंगे?

तब माता ने कहा - हे पुत्री! तू इतनी अधीर मत हो। निश्चय ही तेरा पति २-४ दिन में आवेगा। सो यदि वह सूना घर देखेगा तो बहुत दु:खी होगा, इसलिए जैसे तुम इतने दिन रही हो, वैसे और भी २-४ दिन सही। फिर हम तुम दोनों दीक्षा लेंगे। तब मैनासुन्दरी बोली - माताजी! अब मोहवश समय बिताना व्यर्थ है। आप भी मोह को छोड़कर चलो और प्रभु के चरण की सेवा करो। अब रहना उचित नहीं है। यदि रहूंगी तो बहुत दु:ख उठाना पड़ेगा। माताजी! आप तो उनकी जननी हो।

सो पुत्र की विभूति भी देखोगी और मेरे जैसी तो उनके अनेकों दासियां होंगी। सो अब क्यों व्यर्थ ही अपमान सहने के लिये रहूं और इस पर भी अभी उनके आने की कुछ खबर नहीं है, तब क्यों अपना समय बिताया जाए?

इस प्रकार सास-बहू की बातें हो रही थीं कि श्रीपालजी धीमे स्वर से किवाड़ खटखटाकर बोले - माताजी! किवाड़ खोलिये, आपका प्रिय पुत्र श्रीपाल द्वार पर खड़ा है।

इस प्रकार की आवाज सुनकर दोनों सास-बहू सहम गईं, उनका वियोगिक शोक हर्ष में परिणत हो गया। उनके हर्ष रोमांच हो आए और इसलिए शीघ्रातिशीघ्र उन्होंने किवाड़ खोल दिए। किवाड़ खुलते ही वे भीतर गये और माता को प्रणाम किया। माता ने हर्षित हो आशीर्वाद दिया - हे पुत्र! तुम चिरंजीवी होकर प्राप्त की हुई लक्ष्मी को सुखपूर्वक भोगो और तुम्हारा यश सर्वत्र फैले।

पश्चात् श्रीपालजी की दृष्टि मैनासुन्दरी की ओर गयी, तो देखा कि वह कोमलांगी अत्यन्त क्षीणशरीर हो रही है। तब उसके महल में गये। वहाँ पहुँचते ही मैनासुन्दरी पाँव पर गिर पड़ी। कुछ कालतक सुखमूर्छित होने से चुपकी ही रही, फिर नम्र शब्दों में चित्त के हर्ष को प्रकाशित करने लगी - आहा! आज मेरा धन्यभाग्य है जो मैं स्वामी का दर्शन कर रही हूँ।

हे प्राणवल्लभ! इस दासी पर आपकी असीम कृपा है, जो समय पर दर्शन दिये। धन्य हो! आप अपने वचन के निर्वाह करनेवाले हैं, मैं आपकी प्रशंसा करने को असमर्थ हूँ।

तब कोटीभट्ट ने अपनी प्रिया को कण्ठ से लगाकर उसे धैर्य दिया। पश्चात् परस्पर कुशल वृत्त पूछकर , श्रीपालजी माता और मैनासुन्दरी को अपने कटक में ले गये और वहाँ जाकर माता को उच्चासन पर बैठाकर निकट ही मैनासुन्दरी को उन्हीं के आसन के पास ही स्थान दिया। पश्चात् रयनमंजूषा आदि समस्त स्त्रियों को बुलाकर कहा – यह उच्चासन पर विराजमान हमारी पूज्य माता और तुम्हारी पूज्य सासुजी हैं और उनके पास ही मेरी प्रथम पत्नी पट्टरानी मैनासुन्दरी है। इन्हीं के प्रसाद से तुम सब आठ हजार रानियाँ और ये सब सम्पत्तियाँ मुझे प्राप्त हुई हैं।

तब उन स्त्रियों ने स्वामी के मुख से यह सम्बन्ध जानकर यथाक्रम सासु कुन्दप्रभा और मैनासुन्दरी को यथायोग्य नमस्कार करके बहुत विनय सत्कार किया। इस प्रकार परस्पर सम्मिलन हुआ। पश्चात् श्रीपालजी ने माता और मैनासुन्दरी को अपना सब कटक दिखाया।

माताजी की आज्ञा लेकर मैनासुन्दरी को आठ हजार रानियों की मुख्य पट्टरानी का पद प्रदान किया और बोले–

हे सुन्दरी! यह सब कुछ जो विभूति दीखती है, सो तेरे ही प्रसाद से है। मैं तो विदेशी पुरुष हूँ, जो विपत्ति का मारा यहाँ आया था। तब मैनासुन्दरी ने विनययुक्त हो नीचा मस्तक कर लिया और बोली –

हे स्वामिन्! मैं आपकी चरणरज के समान हूँ। मैंने अपने पूर्व पुण्य के योग से ही आप जैसा भर्तार पाया है। आप तो

कोटीभट्ट, साहसी, धीरवीर, पराक्रमी और महाबली हो। लक्ष्मी तो आपकी दासी है। आपकी निर्मल कीर्ति दशों दिशाओं में व्याप्त हो रही है।

इस तरह मैनासुन्दरी का पट्टाभिषेक हो गया और वे रयनमंजूषा, गुणमाला, चित्ररेखादि समस्त आठ हजार रानियाँ मैनासुन्दरी की सेवा सुश्रुषा करने लगीं। पश्चात् एक समय मैनासुन्दरी को अपने पिता के पूर्वकृत्य का स्मरण हो आया, सो वह बदला लेने के विचार से पति से बोली-

हे स्वामिन्! आप तो दिगंत-विजयी हो, इसलिए मेरी इच्छा है कि आपके द्वारा मेरे पिता का युद्ध में मान भंग होवे और जब वे कंधे पर कुल्हाड़ी रखे हुए, कम्बल ओढ़कर और लंगोटी लगाकर सन्मुख आवें, तभी उन्हें छोड़ना चाहिए।

यह सुनकर कोटीभट्ट चुप हो गये और कुछ सोच-विचारकर बोले - हे कान्ते! तुम्हारे पिता ने मेरा बड़ा उपकार किया है अर्थात् कोढ़ी को कन्या दी है। जिस समय मैं स्वयं स्वजनों से वियोगी हुआ यत्र-तत्र फिर रहा था, तब उनने मेरी सहायता की थी, सो ऐसे उपकारी का अपकार करना कृतघ्नता और घोर पाप है। अत: मुझसे यह कार्य कठिन है। तब मैनासुन्दरी बोली-

हे स्वामिन! मैं कुछ द्वेषरूप से नहीं कहती हूँ, परन्तु यदि कुछ चमत्कार दिखाओगे तो उनकी जिनधर्म पर दृढ़ श्रद्धा हो जायेगी, यही मेरा अभिप्राय है।

●●●

श्रीपाल का पहुपाल से मिलाप

श्रीपाल प्रिया के ऐसे वचन सुनकर अत्यन्त हर्षित हुए और तुरन्त ही एक दूत को बुलाकर उसे सब भेद समझाया और राजा पहुपाल के पास भेजा। सो दूत स्वामी की आज्ञानुसार शीघ्र ही राजा की ड्योड़ी पर जा पहुँचा और दरबान के हाथ अपना सन्देश भेजा। राजा ने उसे आने की आज्ञा दी, सो दूत ने सन्मुख जाकर राजा पहुपाल को यथायोग्य नमस्कार किया। राजा ने कुशल पूछी, तब दूत बोला–

महाराज! एक अत्यन्त बलवान पुरुष कोटीभट्ट अनेक देशों को विजय करके और वहाँ के राजाओं को वश में करता हुआ आज यहाँ आ पहुँचा है, उसकी सेना नगर के चारों ओर पड़ रही है। उसके सामने किसी का गर्व नहीं रहा है। सो उसने आपको भी आज्ञा की है कि लंगोटी लगा, कम्बल ओढ़, माथे पर लकड़ी का भार और कंधे पर कुल्हाड़ी रखकर मिलो तो कुशल है, अन्यथा क्षणभर में विध्वंश कर दूंगा। इसलिए हे राजन! आप यदि कुशल चाहते हो तो इस प्रकार से जाकर उससे मिलो, नहीं तो आप जानो। पानी में रहकर मगर से बैर करके काम नहीं चलेगा।

राजा पहुपाल को दूत के वचनों से क्रोध आया और वे बोले – इस दुष्ट का मस्तक उतार लो जो इस प्रकार अविनय कर रहा है। तब नौकरों ने आकर दूत को तुरन्त ही पकड़ लिया और राजा की आज्ञानुसार दण्ड देना चाहा, परन्तु मन्त्रियों ने

कहा – महाराज! दूत को मारना अनुचित है, क्योंकि वह बेचारा कुछ अपनी ओर से तो कहता नहीं है। इसके स्वामी ने जैसा कहा होगा, वैसा ही तो कह रहा है, इसमें इसका कुछ अपराध नहीं है, इसलिए इसे छोड़ देना ही योग्य है।

और हे महाराज! यह राजा बहुत ही प्रबल मालूम पड़ता है, इसलिए युद्ध करने में कुशलता नहीं दिखती है, किन्तु किसी प्रकार उससे मिल लेना ही उचित है।

तब राजा ने मन्त्रियों की सलाह के अनुसार दूत को छोड़कर कहा कि तुम अपने स्वामी से कह दो कि मैं आपकी आज्ञा मानने को तत्पर हूँ। यह सुनकर दूत हर्षित होकर श्रीपाल के पास गया और यथावत् वार्ता कह दी कि राजा पहुपाल आपसे आपकी आज्ञानुसार मिलने को तैयार है।

तब श्रीपाल ने मैनासुन्दरी से कहा – प्रिये, राजा तुम्हारे कहे अनुसार मिलने को तैयार है। अब उसे अभयदान देना ही योग्य है। मैनासुन्दरी ने कहा – आपकी जो इच्छा हो सो कीजिये। तब श्रीपाल ने पुन: दूत को बुलाकर राजा पहुपाल के पास यह सन्देशा भेजा कि आप चिन्ता न करें और अपने दलबल सहित जैसा राजाओं का व्यवहार है, उसी प्रकार से आकर मिलें। सो दूत ने जाकर राजा पहुपाल को यह सन्देशा सुनाया। सुनकर राजा को बहुत हर्ष हुआ और दूत को बहुत-सा पारितोषिक देकर विदा किया। तथा आप डंका, निशान, हय, गज, रथ, वाहनादि सहित बड़ी धूमधाम से मिलने को चला। जब पास पहुँचा तब राजा पहुपाल हाथी से उतकर पांव प्यादे हो गया। यहाँ श्रीपाल

श्वसुर को पांव प्यादे आते देखकर आप भी पांव प्यादे चलकर सन्मुख गये और दोनों परस्पर कण्ठ से कण्ठ लगाकर मिले। दोनों को बहुत आनन्द हुआ। राजा पहुपाल के मन में एकदम कुछ अनोखे भाव उत्पन्न हुए, इसलिए वह श्रीपाल के मुँह की ओर देखकर बोले-

हे राजराजेश्वर! आपको देखकर मुझे बहुत मोह उत्पन्न होता है, परन्तु मैं अब तक आपको पहिचान नहीं सका हूँ कि आप कौन हैं? तब श्रीपाल हंसकर बोले - महाराज! मैं आपका लघु दामाद श्रीपाल ही तो हूँ जो मैनासुन्दरी से बारह वर्ष का वायदा करके विदेश गया था, सो आप के प्रसाद से आज वापस आया हूँ। यह सुनकर राजा ने फिर से श्रीपालजी को गले लगा लिया और परस्पर कुशलक्षेम पूछकर हर्षित हुए। नगर में आनन्द भेरी बजने लगी। फिर राजा अपनी पुत्री के पास गया और क्षमा मांगने लगा-

हे पुत्री! तू क्षमा कर। मैंने तेरा बड़ा अपराध किया है। तू सच्ची, धर्मधुरन्धर, शीलवती सती है। तेरी बढ़ाई कहाँ तक करूँ। मैनासुन्दरी ने नम्र होकर पिता को सिर झुकाया। पश्चात् राजा रयनमंजूषादि सब रानियों से मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ और सर्व संघ को लेकर नगर में लौट आया। नगर की शोभा कराई गई। घर-घर मंगल बधावे होने लगे। राजा ने श्रीपाल का अभिषेक कराया और सब रानियों समेत वस्त्राभूषण पहिनाये। इस प्रकार श्वसुर-दामाद मिलकर सुखपूर्वक काल व्यतीत करने लगे।

●●●

श्रीपाल का चंपापुर जाना

इस प्रकार सुखपूर्वक रहते हुए श्रीपाल का बहुत समय बीत गया। एक दिन बैठे-बैठे उनके मन में वही विचार उत्पन्न हो गया कि जिस कारण हम विदेश निकले थे, वह अभी पूर्ण नहीं हो पाया है। अर्थात् पिता के कुल की प्रख्याति तो अभी नहीं हुई और मैं वही राज-जंवाई ही बना हुआ हूँ। इसलिए अब अपने देश में चलकर अपना राज्य प्राप्त करना चाहिए। यह सोचकर श्रीपालजी राजा पहुपाल के निकट गये और देश जाने की आज्ञा मांगी। तब राजा को भी उनकी इच्छा प्रमाण आज्ञा देनी पड़ी।

श्रीपाल मैनासुन्दरी आदि आठ हजार रानियों और बहुत सेनासहित उज्जैन से विदा हुए। राजा पहुपाल आदि बहुत से राजा भी उनको पहुँचाने को आये और सबने शक्ति प्रमाण बहुमूल्य वस्तुऐं भेंट कीं।

बहुत भूप इकट्ठे भये, दियो भट बहु माल।
कोलाहल होवत भयो, चलो राव श्रीपाल।।१।।

श्रीपाल चलो मेरूं हलो, जागो वासक शेष।
गजघंटा गाजहिं प्रबल, भजहिं अरि तज देश।।२।।

बाजे निशान अरु सैन्य सब, गिनी कौन से जाय।
कलमले दश दिगपाल हो, कंपे थर हर राय।।३।।

धूल उड़ी आकाश में, लोप भयो है मान।
खलबल हुई भुवि लोक में, शब्द सुनिय नहिं कान।।४।।

अंधवार प्रगटयो तहां, जुरी सेना गम्भीर।
और कहा दशहू दिशा, खूट गयो तृण नीर।।५।।
लांघत गिरी खाई नदी, वन थल नगर अपार।
वश कर बहु नृप आइयो, चंपापुरी मंझार।।६।।

श्रीपालजी इस प्रकार बड़ी विभूतिसहित स्वदेश चम्पापुर के उद्यान में आये और नगर के चहुं ओर डेरे डलवा दिये। सो नगर निवासी इस अपार सेना को देखकर हक्के-बक्के रह गये और सोचने लगे कि अचानक ही हम लोगों का काल कहाँ से उपस्थित हुआ है? पश्चात् श्रीपाल सोचने लगे कि इसी समय नगर में चलना चाहिए। ठीक है - बहुत दिनों से बिछुरी हुई प्यारी प्रजा को देखने के लिए ऐसा कौन निष्ठुर राजा होगा जो अधीर न हो जाये? सभी हो जाते हैं।

तब मन्त्रियों ने कहा - स्वामी! यकायक नगर में जाना ठीक नहीं है। पहले सन्देशा भेजिये और यदि इस पर वीरदमन सरल मन से ही आपको आकर मिले तो ही इस प्रकार चलना ठीक है, अन्यथा युद्ध करना अनिवार्य होगा। क्योंकि राज्य हाथ में आ जाने पर क्वचित् पुरुष ही ऐसा होगा जो चुपके से वापस सौंप दे। इसलिए यदि उन्हें कुछ शल्य होगी तो भी प्रकट हो जायेगी।

श्रीपाल को यह सलाह अच्छी लगी और तुरन्त दूत को बुलाकर सब बात समझाकर राजा वीरदमन के पास भेजा। वह दूत शीघ्र ही राजा वीरदमन की सभा में पहुँचा और नमस्कार कर कहने लगा-

हे महाराज! आज राजा श्रीपाल बहुत परिग्रह और वैभवसहित आ पहुँचे हैं। सो आप चलकर शीघ्र ही उनसे मिलो और उनका राज्य वापस उनको सौंप दो। यह सुनकर वीरदमन पहले तो प्रसन्न हुआ और श्रीपालजी की कुशल पूछने लगा। जब दूत ने सब वृत्तान्त-घर से निकलने, विदेश जाने, आठ हजार रानियों के साथ विवाह करने और बहुत से राजाओं को वश करने आदि सम्पूर्ण समाचार कह सुनाया, तब वीरदमन बोला-

रे दूत! तू जानता है कि क्या राज्य और स्त्री भी कोई किसी को माँगने से देता है? ये चीजें तो बाहुबल से ही प्राप्त की जाती हैं। जिस राज्य के लिए पुत्र पिता को, भाई भाई को, मित्र मित्र को मार डालते हैं, क्या वह राज्य बिना रण में शस्त्र प्रहार किये यों ही सहज भिक्षा माँगने से मिल सकता है? क्या तूने नहीं सुना कि भरत चक्रवर्ती ने राज्य ही के लिए तो अपने भाई बाहुबली पर चक्र चलाया था। विभीषण ने रावण को मरवाया था, कौरवों और पाण्डवों में महाभारत हुआ था, सो राज्य क्या मैं यों ही दे सकता हूँ? नहीं, कदापि नहीं। यदि श्रीपाल में बल हो तो रण के मैदान में आकर लेवे।

यह सुनकर दूत फिर विनयसहित बोला - हे राजन्! ऐसी हठ करने से कुछ लाभ नहीं है। श्रीपाल बड़ा पुरुषार्थी, वीर, कोटीभट्ट और बहुत राजाओं का मुकुटमणि महामंडलेश्वर राजा है। उसके साथ बड़े-बड़े राजा हैं, अपार दलबल है, आपकी उससे मिलने ही में कुशल है। यदि आप उससे मिलेंगे तो वह न्यायी हैं, आपको पिता के तुल्य ही मानेंगे, अन्यथा आप बड़ी

हानि उठायेंगे। दूत के ऐसे वचनों से वीरदमन को क्रोध आ गया। वे लाल-लाल आँखें दिखाकर बोले -

रे अधम! तुझे लज्जा नहीं। मेरे सामने ही ढिठाई करता जा रहा है। तू अभी मेरे बल को नहीं जानता। मेरे सामने इन्द्र, चन्द्र, नरेन्द्र, खगेन्द्र आदि की भी कुछ सामर्थ्य नहीं है। फिर श्रीपाल तो मेरे आगे लड़का ही है। उससे युद्ध ही क्या करना है? बात की बात में उसका मान हरण करूँगा।

तब दूत बोला - हे राजन्! आप अपने मन का यह मिथ्याभिमान छोड़ दो। श्रीपाल राजाओं का राजा है। महीमण्डल पर जितने बड़े-बड़े राजा हैं कि जिनके यहाँ आपके सरीखे दासत्व करते हैं, उन सबने उनकी सेवा स्वीकार कर ली है। फिर आपकी गिनती क्या है? वन में बहुत जानवर होते हैं, परन्तु एक हाथी की चिंघाड़ से वे कोई नहीं ठहर सकते और वैसे हजारों हाथी भी एक सिंह की गर्जना से दिशा-विदिशाओं में भाग जाते हैं। हजारों साँपों के लिए एक गरुड़ ही काफी है। इसी प्रकार आप जैसे करोड़ों राजा आ जायें तो भी उस भुजबली के एक ही प्रहार मात्र में निगर्व होकर शस्त्र छोड़ देंगे अर्थात् वह एक ही बार में सबका संहार करने को समर्थ हैं।

तब क्रोध कर वीरदमन बोले - अरे धीठ! तू मेरे सामने से हठ जा। मैं तुझे क्या मारूं? क्योंकि राजनीति का यह धर्म नहीं है जो दूत को मारा जाये। तुझे मारने से मेरी शोभा नहीं है। तू मेरे ही सामने मेरी निन्दा और श्रीपाल की बड़ाई करता है। क्या मैं उसे नहीं जानता हूँ। वह मेरा ही लड़का तो है। मैंने उसे गोद में

खिलाया है और कोढ़ी होकर वह जब घर से निकला था, तब रोता हुआ गया था। सो अब कहाँ का बलवान हो गया? और उसके पास इतनी सेना कहाँ से आ गयी, जो मुझसे लड़ने का साहस करता है? जा जा, देख लिया मैंने उसका बल! उससे कह दे कि क्यों अपनी हंसी कराता है? तब वह दूत फिर बोला-

देखो राजाजी! अभिमान मत करो। भरत ने अभिमान किया सो चक्रवर्ती होकर, भी बाहुबली से अपमानित हुए। रावण ने मान किया, सो लक्ष्मण से मारा गया। दुर्योधन का मान भीम ने मर्दन किया। जरासिंधु को श्रीकृष्ण ने मारा-इत्यादि बड़े-बड़े पुरुषों का भी मान नहीं रहा, तो तुम्हारी गिनती ही क्या है? इसलिए मैं फिर कहता हूँ कि यदि अपना भला चाहो तो श्रीपाल की सेवा करो। क्योंकि यदि वह एक ही वीर को आज्ञा कर देगा तो वही वीर तुम्हारा क्षणभर में संहार कर डालेगा।

तब दूत के ऐसे वचन सुनकर वीरदमन बोले - इस दूत की खाल निकलवाकर भूसा भर दो अर्थात् मार डालो। यह मेरे ही सामने बार-बार मेरी निन्दा करता है और मन में तनिक भी शंका नहीं करता। तब मन्त्री बोले - महाराज दूतों पर क्रोध नहीं करना चाहिए। इनका स्वभाव ही यह है। ये तो अपने स्वामी के प्रेरे हुए निडर होकर कठिन से कठिन शब्द बोलते हैं। इनको कोई नहीं मारता है। इनका साहस अपार होता है कि परचक्र में जाकर भी नि:शंक हो स्वामी के कार्य में दत्तचित्त होते हैं। ये लोग अपने स्वामी के कार्य के आगे राजवैभव को भी तुच्छ गिनते हैं। ये लोग ऐसे शूरवीर होते हैं कि दूसरे की सभा में जहाँ

इनका कोई सहायक नहीं है, वहाँ पर भी अपने स्वामी की कीर्ति और परचक्र की निन्दा करते हैं। इनके मन में सदा अपने स्वामी का हित ही विद्यमान रहता है।

इसलिए महाराज! इस दूत को ऐसा इनाम देना चाहिए कि जिसका बखान अपने स्वामी तक करता जाये क्योंकि जिनके कुल परम्परा से राज्य चला आ रहा है, वे दूतों को बहुत सुख देते हैं, इसलिए आप भी यश के भागी होओ। यदि दूत को आप मारोगे तो अपवाद होगा क्योंकि इन्हें कोई कभी नहीं मारता, ये चाहे जो कुछ क्यों न कहें। ये बेचारे स्वामी के बल से गरजते हैं।

तब वीरदमन ने दूत का सन्मान कर उसे बहुत-सा द्रव्य दिया और कहा कि तुम श्रीपाल से जाकर कह दो कि युद्ध में जिसकी विजय होगी, वही राज्य करेगा। तब दूत नमस्कार कर वहाँ से गया और जाकर श्रीपाल से सब वृत्तान्त कह दिया कि वीरदमन ने कहा है कि 'संग्राम में आकर जुटो और बल हो तो राज्य ले लो।'

●●●

श्रीपाल का काका वीरदमन से युद्ध

श्रीपालजी को दूत से यह समाचार सुनते ही क्रोध उत्पन्न हो उठा। वे होंठ डंसते हुए बोले - क्या वीरदमन को इतना साहस हो गया है जो मेरे राज्य पर, मेरे द्वारा दिये हुए राज्य पर इतना गरजता है और मुझे मेरा ही राज्य वापिस देने के बदले युद्ध करना चाहता है? अच्छा ठीक है, अभी मैं इसके मान को मर्दन कर अपना राज्य छुड़ाता हूँ।

यह सोचकर उन्होंने तुरन्त ही सेनापति को आज्ञा दी कि सैन्य तैयार करो। यहाँ आज्ञा की देरी थी कि सैन्य तैयार हो गया। सब बड़े-बड़े वाहनों पर चढ़ चले। हाथी, घोड़े, प्यादे, रथ इत्यादि के समूह यथानियम दिखाई देने लगे। शूरों के चेहरे सूर्य के समान चमकने लगे। घोड़ों की हींस, हाथियों की चिंघाड़, झूलों की झनकार, रथों की गड़गड़ाहट से आकाश गूंजने लगा। धूल उड़कर बादलों की शंका उत्पन्न करने लगी। बाजों के मारे मेघगर्जना भी सुनाई नहीं देती थी।

इस तरह चतुरंग दल सजकर तैयार हुए और नगर बाहर रंगभूमि में आकर जम गये। एक ओर श्रीपाल की सेना और दूसरी ओर काका वीरदमन की सेना लग रही थी। दोनों परस्पर दाव घात विचारते थे। दोनों ओर बहुत दूर-दूर तक सिवाय मनुष्यों, घोड़ों, हाथी, रथ आदि के कुछ नहीं दिखाई देता था। शूरवीर रणधीर पुरुष अपने-अपने कुटुम्बी तथा स्त्रियों से क्षमा माँग-माँगकर और उन्हें धैर्य देकर चले जा रहे थे। उनकी स्त्रियाँ भी उनसे कहती थीं-

हे स्वामिन्! यद्यपि जी तो नहीं चाहता कि आपको छोड़ें परन्तु नीति और धर्म कहता है कि नहीं, इस समय रोकना पाप है। इससे स्वामी द्रोह समझा जाता है। वर्षों से जिनका नमक खा रहे हैं, आज समय आने पर अवश्य ही साथ देना चाहिए। संसार में सब कुछ अनित्य है, परन्तु वीर पुरुषों का नाम पृथ्वी पर अमर रहता है।

आप जाओ और तन, मन से स्वामी का साथ दो। घर की

चिन्ता न करना। हम लोगों का कर्म हमारे साथ है। आप कृत कार्य होने की चेष्ठा करना, युद्ध में हारकर पीठ दिखाकर व पीठ पर घाव खाकर पीछे घर मत आना। पीठ दिखाकर मुझे मुँह न दिखाना। कायर की स्त्री कहलाने के बदले मुझे विधवा कहलाना अच्छा है। शूरवीरों की स्त्रियाँ विधवा होने अर्थात् युद्ध में उनका पति मर जाने पर भी वे विधवा नहीं होती हैं क्योंकि उनके पतियों का नाम सदैव जीता है। जाओ और जय प्राप्त करो। अपने घराने में सयानों ने भी ऐसे ही नाम कमाया है। शरीर, स्त्री, पुत्रादि कोई काम नहीं देते। संसार में कायर का जीना मरने से भी खराब है क्योंकि एक दिन तो मरना ही है। क्योंकि यह विनाशीक शरीर कोटि यत्न करने पर भी स्थिर नहीं रहेगा। तब बदनाम होकर बहुत जीने से नेकनामी के साथ शीघ्र मर जाने में हानि नहीं है। अपघात नहीं करना चाहिए और जीते जी कायर भी नहीं होना चाहिए। आज हर्ष है कि आप युत्र में जा रहे हैं। आप कृतकार्य में होंगे और मैं भी अपने आपको वीर पुरुष की पत्नी कहलाने का सौभाग्य प्राप्त करूंगी।

शूरवीरों की शूर स्त्रियाँ इस तरह सिखावन देती थीं, जबकि कायरों की कायर स्त्रियाँ कहती थीं – स्वामिन्! देखो, मैं कहती थी कि इस प्रकार की नौकरी मत करो, यह मौत की निशानी है। न मालूम कब अचानक आ बीतेगी? मेरा कहना न माना, उसी का यह फल है। तुम तो चले, अब मैं क्या करूँगी? बाल-बच्चों की रक्षा कैसे होगी? मेरी यह तरुण अवस्था कैसे कटेगी? देखो, अभी कुछ नहीं गया है। चलो, मौका पाकर भाग चलें।

कहीं जंगल में रहकर दिन बितायेंगे। यह राज्य न सही, अन्य सही। व्यर्थ क्यों मरते हो? और हम लोगों की हत्या सिर लेते हो। मैं तो नहीं जाने दूँगी, फिर तुमको कसम है जो जाओ। मैं तुम्हारे जाते ही मर जाऊँगी। फिर तुम लौटे भी तो किससे मिलोगे? कहाँ का राजा, कहाँ की प्रजा? अपना जी सुखी तो जहान सुखी।

इस प्रकार स्त्रियाँ जहाँ-तहाँ अपने पतियों को समझाने लगीं। यह सुनकर कायर के दिल धड़कने लगे और शूरवीरों के दिल फूलने लगे।

इधर दोनों ओर से रणभेरी बजा दी गयी। रण के बाजे बजने लगे, जिसको सुनकर शूरवीर पतंग के समान उछलकर प्राण समर्पण करने लगे। हाथीवाले हाथीवालों से, घोड़ेवाले घोड़ेवालों से, रथ रथ से, प्यादे प्यादों से-इस प्रकार दोनों दल परस्पर भूखे सिंह के समान एक-दूसरे पर टूट पड़े। तलवारों की खनखनाहट और चमक-दमक से बिजली भी शर्मा जाती थी। मेघों को शर्माने के लिए तोपों के गोले गड़गड़ाते हुए सूर्य को आच्छादित कर देते थे। वीरों के सिर कट जाने पर भी कुछ समय तक रुण्ड मार-मार करता रहता था। लहू की नदी बहने लगी, जहाँ-तहाँ तक रुण्ड-मुण्ड दिखाई देने लगे, जिसे देखकर वीरों का जोश बढ़ने लगा और कायरों के छक्के छूटने लगे।

इस तरह दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ, परन्तु दोनों में से कोई एक भी पीछे नहीं हटता था। जब दोनों ओर के मन्त्रियों ने देखा कि दोनों में से कोई भी नहीं हटता, दोनों पक्ष बलवान

और दोनों भुजबली हैं, तब यदि ये दोनों परस्पर युद्ध करें तो ठीक है, दोनों ओर की सेना क्यों व्यर्थ कटे। यह विचार कर मन्त्रियों ने अपने-अपने स्वामियों से कहा कि आप राजा युद्ध करें, व्यर्थ सैन्य कटने में कुछ लाभ नहीं है। सो यह विचार दोनों को पसन्द आया और दोनों अपनी-अपनी सेनाओं को रोककर परस्पर ही युद्ध करना निश्चित कर काका और भतीजा रणक्षेत्र में आ डटे।

वीरदमन बोले - आओ बेटे! हम तुम परस्पर ही लड़ लें। सेना का व्यर्थ संहार क्यों किया जाय? तब श्रीपालजी भी हर्षित होकर बोले - बहुत ठीक काकाजी! परन्तु अब भी मैं तुम्हें समझाकर कहता हूँ कि तुम दूसरे का राज्य छोड़ दो, इसी में तुम्हारी भलाई है। क्योंकि मैं तुमको हमेशा से पिता के समान जानता रहा हूँ। सो क्या मैं अपने ही हाथ से तुम्हें मारूँ? यह सुनकर वीरदमन क्रोध से बोले - अरे श्रीपाल! तू अभी लड़का है, तुझे युद्ध का व्यवहार मालूम नहीं है। जब रणक्षेत्र में आ ही गये तो किसका पिता और किसका पुत्र? किसका भाई और किसका मित्र? यहाँ डरने से व सम्बन्ध बताकर कायरी से काम नहीं चलता। इसी से मैंने पहिले ही तुझे समझाया था परन्तु तू न माना और लड़कपन किया। सो अब क्या मेरे हाथ से तू बचकर जा सकेगा? कभी नहीं, कभी नहीं। तब कोटीभट्ट को भी क्रोध आ गया। वे बोले -

रे वीरदमन! तेरे बराबर अज्ञानी कोई नहीं है, जो पराये राज्य पर गरज रहा है। देखो - कहा है कि जो पर-स्त्री से प्रीति

करता है, जो मुँह से गाली निकालता है, जो पराधीन भोजन करता है, जो ज्ञानरहित तप करता है, जो पराये धन पर सुख भोगता है, जो सांप से मित्रता करता है, जो स्त्री पर भरोसा रखता है, जो अपने मन की बात सबसे कहता है, जो धनी होकर पराधीन रहता है, जो बिना द्रव्य दानी बनता है, जो वैश्या से प्रीति करता है, वह किसी न किसी दिन बहुत धोखा खाता है। जो कुशील सेवन करता है, जो भंग पीकर बुद्धिमान बनता है, जो पतित होकर यों ही ठौर-ठौर वाद-विवाद करता है, जो हंस मानसरोवर छोड़ देता है, जो वैश्या लज्जावती बन जाती है, जो जुआं में सच बोलता है, जो दूसरे की सम्पत्ति पर ललचाता है, उससे अधिक मूर्ख संसार में कौन है?

वीरदमन को उक्त नीति सुनकर लज्जा तो अवश्य हुई, परन्तु वह उस समय लाचार था। वीर पुरुष युद्ध में नहीं हटते, इसलिए उसने धनुष उठा लिया। और ललकार कर बोला-

बस रहने दे तेरी चतुराई। अब कायरों की बातें बनाने का समय नहीं है। यदि कुछ बाहुबल है तो सामने आ।

तब श्रीपाल से नहीं रहा गया। वे कान के पास तक धनुष खींचकर सन्मुख हो गये। सो जैसे अर्जुन और कर्ण, रावण और लक्ष्मण, तथा भरत और बाहुबली का परस्पर युद्ध हुआ, वैसा ही होने लगा। जब सामान्य हथियारों से बहुत युद्ध हुआ और कोई किसी को न हरा सका, तब शस्त्र छोड़कर मल्लयुद्ध करने लगे, सो बहुत समय तक यों ही लिपटते रहे, परन्तु जब बहुत देर हो गई, तब श्रीपाल ने वीरदमन को दोनों पांव पकड़ के उठा

लिया और चाहा कि पृथ्वी पर दे मारे परन्तु दया आ गई, इसलिए धीरे से पृथ्वी पर लिटा दिया। सब ओर से 'जय-जय' शब्द होने लगे। वीरों ने श्रीपाल के गले में जयमाला पहिनाई और बोले-

राजन्! तुम दयालु हो। पश्चात् जब श्रीपाल ने वीरदमन को छोड़ दिया, तब वीरदमन बोले - हे पुत्र! यह ले, तू अपना राज्य सम्हाल। मैंने तेरा बल देखा। तू यथार्थ में महाबली है। हमारे इस वंश में तेरे जैसे शूरवीर ही होने चाहिए।

तब श्रीपाल बोले - हे तात! यह सब आपका ही प्रसाद है। आपकी आज्ञा हो सो करूँ।

यह सुनकर वीरदमन बोले - पुत्र! ठीक है, अब मेरा यह विचार है कि तू राज्यभार ले और मैं जिन दीक्षा लूँ, जिससे यह भववास मिटे। पश्चात् आनन्द भेरी बजने लगी। सबका भय दूर हुआ। जहाँ-तहाँ मंगल गान होने लगे। वीरदमन ने श्रीपाल का राज्याभिषेक कराकर पुनः राज्यपद दिया और बोले -

हे वीरवर! अब तुम सुख से चिरकाल तक राज्य करो और नीति न्यायपूर्वक पुत्रवत् प्रजा का पालन करो। दुःखी दरिद्रों पर दयाभाव रखो और मेरे ऊपर क्षमा करो। जो कुछ भी मुझसे तुम्हारे विरुद्ध हुआ है, सो सब भूल जाओ। अब मैं जिनदीक्षारूपी नाव में बैठकर भवसागर को तिरूंगा।

इस तरह वीरदमन अपने भतीजे श्रीपाल को राज्य देकर आप वन में गये और वस्त्राभूषण उतारकर निज हस्तों से केशों

का लोंच किया। राग-द्वेषादि चौदह अन्तरंग और क्षेत्र, वास्तु आदि दश बाह्य - ऐसे सब चौबीस प्रकार के परिग्रह को त्याग कर पंच महाव्रत धारण किये और घोर तपश्चरण द्वारा चार घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञान प्राप्त किया और बहुत जीवों को धर्मोपदेश देकर उन्हें संसार से पार किया। पश्चात् शेष अघातिया कर्मों को भी आयु के अन्त समय नि:शेष कर परमधाम मोक्ष को प्राप्त किया।

धर्म बड़ो संसार में, धर्म करो नरनार।
धर्म योग श्रीपालजी, पाई लच्छ अपार।।१।।

वीरदमन मुक्तहिं गये, धर्म धारकर सार।
आठ सहज रानीन की, मैना भई पटनार।।२।।

धर्मयोग जिय सुख लहे, योग योग शिवसार।
'दीपचन्द' नित संग्रहों, धर्म पदारथ सार।।३।।

●●●

श्रीपाल का राज्य करना

अशुभ कर्म भयो दूर सब, शुभ प्रगट्यो भरपूर।
राज्य करे विलसे विभव, श्रीपाल बलशूर।।
कीनों यश भुवि लोक में, दुर्जन के उरू साल।
सकल जीव रक्षा करी, महाराज श्रीपाल।।

इस प्रकार राजा श्रीपाल आठ हजार रानियोंसहित इन्द्र के समान सुखपूर्वक काल व्यतीत करने लगे। देश-देश में इनकी प्रख्याति बढ़ गई। अनेक देशों के बड़े-बड़े राजा इनके आज्ञाकारी

हो गये। जो राजा लोग अनेक द्वीपों और देशों से साथ पहुंचाने आये थे, सो सबको यथायोग्य सम्मानपूर्वक विदा किया और प्रजा का प्रीति से पुत्रवत् पालन करने लगे। नित्यप्रति चार प्रकार के संघ को चारों प्रकार के दान भक्तिभाव से देने लगे। दु:खित तो कोई नगर में था नहीं; वुभुक्षित भी राज्यभर में कठिनता से मिलता था। इत्यादि राज्य वैभव सब कुछ था और इनको किसी बात की कमी नहीं थी तो भी ये सब सुख के मूल जिनधर्म को नहीं भूलते थे। नित्य नियमानुसार वर्धमान रूप से षट् आवश्यकों, देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान में यथेष्ठ प्रवृत्ति करते थे।

इस तरह राज्य करते हुए श्रीपाल का सुख से समय जाता था। कितनेक दिनों बाद मैनासुन्दरी को गर्भ रहा, उसे अनेक प्रकार के शुभ दोहले (इच्छाएँ) उत्पन्न हुए और श्रीपाल ने उन सबको पूर्ण किया। इस तरह जब नव महीने हो गये, तब शुभ घड़ी मुहूर्त में चन्द्रमा के समान उज्ज्वल कान्ति का धारी पुत्र हुआ। पुत्र जन्म से सर्व कुटुम्ब व प्रजा को अत्यानन्द हुआ और पुत्र जन्मोत्सव में बहुत द्रव्य खर्च किया। याचक जन निहाल कर दिये। पश्चात् ज्योतिषी को बुलाकर ग्रहादिक का व्योरा हुआ तो उसने बहुत सराहना करके कहा कि यह पुत्र उत्तम लक्षणोंवाला है, इसका नाम धनपाल है।

इस तरह दूसरा महीपाल, तीसरा देवरथ और चौथा महारथ ये चार पुत्र मैनासुन्दरी के हुए। रयनमंजूषा के सात पुत्र हुए, गुणमाला के पाँच पुत्र हुए और सब स्त्रियों से किसी के एक,

किसी के दो इस प्रकार महाबली, धीरवीर, गुणवान् कुल बारह हजार पुत्र हुए। वे नित्यप्रति दूज के चन्द्र समान बढ़ने लगे।

अहा! देखो, धर्म का प्रभाव! इससे क्या नहीं हो सकता! श्रीपालजी धर्म के प्रसाद से सुखपूर्वक काल व्यतीत करते थे। एक दिन श्रीपालजी सिंहासन पर बैठै थे, पास ही बांईं ओर मैनासुन्दरी भी बैठी थीं, बन्दीजन बिरद बखान कर रहे थे, सेवकजन चमर ढोर रहे थे, नृत्याकारिणी नृत्य कर रही थीं, गीत बादित्र बज रहे थे, विनोद हो रहा था, कविजन पुराण पढ़ रहे थे, चारों ओर कुंकुम, चन्दन, कस्तूरी, कपूर आदि पदार्थों की सुगन्ध फैल रही थी, अबीर, गुलाल उड़ रहा था। ताम्बूल, सुपारी, इलायची, जावित्री, लौंग आदि बंट रहे थे। कहीं आम, जाम, सीताफल, नारियल, केला आदि फल और किसमिस, द्राक्ष, छुआरा, चिरोंजी, काजू, पिस्ता, अखरोट, अंगूर आदि मेवे बंट रहे थे। इस प्रकार राजा क्रीड़ा कर रहा था कि वनमाली आया और वह नमस्कार कर छह ऋतु के फल-फूल राजा को भेंट करके नम्र हो बोला -

हे स्वामिन! इस नगर के वन में समीप ही श्री १००८ केवली मुनिराज का आगमन हुआ है, जिनके प्रभाव से सब ऋतुओं के फल-फूल साथ ही फूले और फल गये हैं। सूखे सरोवर भर गये हैं। जाति-विरोधी जीव परस्पर वैर छोड़कर विचर रहे हैं। गाय का बच्चा सिंहनी के स्तन से लग जाता है। सांप नेवला को खिलाता है। चूहा बिल्ली से क्रीड़ा करता है।

चहुं ओर शिकारियों को शिकार भी नहीं मिलता है। हे नाथ! ऐसा अतिशय हो रहा है।

यह सुनकर श्रीपालजी सिंहासन से उतरे और वहीं से प्रथम सात पद चलकर परोक्ष रीति से नमस्कार किया और वस्त्राभूषण जो पहिने थे सो सब उतारकर वनमाली को दे दिये तथा और भी बहुत इनाम उसको दिया।

पश्चात् नगर में आनन्दभेरी बजवा दी कि सब लोग महामुनि की वन्दना को चलें। नगर के बाहर वन में श्री महामुनि आये हैं। पश्चात् अपनी चतुरंग सेना सजाकर वे बड़े उत्साह से प्रफुल्लित चित्त हो रनवास और स्वजन पुरजनों को साथ लेकर वन्दना को चले। कुछ ही समय में उद्यान में पहुंचे, जहाँ की शोभा देखकर मन आनन्दित होता था। मन्द सुगन्धि पवन चल रही थी, मानों बसन्तऋतु ही हो।

जब निकट पहुँचे तो श्रीपालजी वाहन से उतरकर यहाँ-वहाँ देखने लगे, कुछ ही दूर सन्मुख अशोक वृक्ष के नीचे सब दु:ख को नाश करनेवाले महामुनिराज विराजमान थे, सो देखते ही श्रीपाल के हर्ष की सीमा न रही। वे श्री गुरुजन को नमस्कार कर तीन प्रदक्षिणा देकर स्तुति करने लगे-

धन्य धन्य तुम श्री मुनिराज, भवजल तारन तरन जहाज।
एक परम पद जाने सोय, चेतन गुण अराधे जोय।।
राग द्वेष नहिं जाके चित्त, समता केवल पाले नित्त।
तीन गुप्ति पालन परमत्थ, रत्नत्रय धारण समरत्थ।।

तीन शल्य मेटन शिवकंत, ज्ञान धरण गुण बल्लभ संत।
भवजल तारण तरण जहाज, पंच महाव्रत धर मुनिराज।।

मकरध्वज खंडो धर भाव, छहों द्रव्य भाषण गुण राव।
आठ कर्म माया मद हर्न, आठ सिद्ध गुण धारण धर्म।।

पूरण ब्रह्मचर्य प्रतिपाल, दश लक्षण गुण धरन दयाल।
द्वादश तप धारो जिय नाहि, द्वादशांग भाषण जो आहि।।

तेरा विधि चारित्र प्रमाण, पाले जो व्रत धरन सुजान।
सहें परीषह बाईस योग, इनके शत्रु मित्र सम होय।
कहां तक कहूँ आप गुणपाल, द्वय कर जोड़ नमैं श्रीपाल।

इस तरह सब पुरजन और रनवाससहित श्रीपाल स्तुति करके श्रीगुरु के चरण कमल के समीप हर्षित होकर बैठे। और भी सब लोग यथायोग्य स्थान पर बैठे। पश्चात् राजा बोले – स्वामिन्! कृपा कर मुझे संसार से पार उतारनेवाला धर्म का उपदेश दीजिए।

तब श्रीगुरु बोले, हे राजन! तुमने यह अच्छा प्रश्न किया। अब ध्यान से सुनो। वस्तु का स्वभाव है, वही धर्म है। सो इस आत्मा का स्वभाव शुद्ध चैतन्य अर्थात् अनन्त दर्शन, ज्ञानस्वरूप है और अमूर्तिक है, परन्तु यह अनादि कर्मबन्धन के कारण से चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करता हुआ पर्यायबुद्धि हो रहा है। इसलिए इसको परपदार्थों से भिन्न अनन्त दर्शन, ज्ञानमयी, सच्चिदानन्दस्वरूप, एक अविनाशी, अखण्ड, अक्षय, अव्याबाध, निरंजन, स्वयंबुद्ध, परमात्मस्वरूप, समयसार निश्चय करना, सो तो सम्यग्दर्शन है। और न्यूनाधिकता तथा संशय विपर्यय

और अनध्यवसायादि दोषों से रहित जो वस्तु को सूक्ष्म भेदोंसहित जानना, सो सम्यक्ज्ञान है और स्वरूप में लीन हो जाना, सो सम्यक्चारित्र है।

इस तरह निश्चयरूप से तो धर्म का स्वरूप यह है। ऐसे निश्चयधर्म की भूमिका में उस ज्ञानी धर्मात्मा को समुचित व्यवहार भी अवश्य होता है, इसीलिए व्यवहार धर्म निश्चय धर्म का कारण है। इसलिए व्यवहार से सप्त तत्त्वों का श्रद्धान, वह दर्शन अथवा इनका जो कारण सत्यार्थ देव, गुरु और शास्त्र का श्रद्धान, वह सम्यग्दर्शन है और पदार्थों को यथार्थ जानना, वह ज्ञान है और इनकी प्राप्ति के उपाय में तत्पर होना, वह सम्यक्चारित्र है। वह चारित्र दो प्रकार है - सर्वथा त्यागरूप (मुनि का) और एकदेश त्याग से (गृहस्थ का)। पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्तिरूप मुनि का और पंचाणुव्रत तथा सप्त शीलरूप श्रावक का होता है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ हैं (जिनमें शक्ति अनुसार उत्तरोत्तर कषायों की मन्दता से जैसे-जैसे त्यागभाव बढ़ता जाता है, वैसी ही ऊपर-ऊपर की प्रतिमाओं का पालन होता जाता है और मुनि का व्रत बाह्य तो एक ही प्रकार है, परन्तु गुणों का गुणस्थानों की परिपाटी से अन्तरंग भावों की अपेक्षा अनेक प्रकार है। इस प्रकार सम्यक्त्वसहित व्रत पालें और आयु के अन्त में दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप, इन चार आराधनाओंपूर्वक सल्लेखनामरण करें।)

इस प्रकार संक्षिप्त में धर्मोपदेश दिया, जिसको सुनकर राजा

को परम आनन्द हुआ। पश्चात् श्रीपालजी ने विनयपूर्वक पूछा – हे परम दयालु ज्ञानसूर्य प्रभो! कृपाकर मेरे भवान्तर कहिये कि किस कर्म के उदय से मैं कोढ़ी हुआ? किस पुण्य-कर्म के उदय से सिद्धचक्र व्रत लिया? किस कारण समुद्र में गिरा? किस पुण्य से तिरकर बाहर निकला? किस कर्म से भांडों ने मेरा अपवाद किया और किस कारण से वह मिट गया? और किस कारण मैनासुन्दरी आदि बहुत-सी रूपवती और गुणवती स्त्रियाँ और विभूति पाईं? इत्यादि।

●●●

श्रीपाल के भवान्तर

श्रीमुनि बोले – हे राजन! सुनो। इसी जम्बूद्वीप दिशा में भरतक्षेत्र है। उसके आर्य खण्ड में एक रत्नसंचयपुर नाम का नगर महारमणीक वन, उपवन, तड़ाग, नदी, कोट, खाई आदि बड़े-बड़े उत्तंग महलों से सुसज्जित था, उसका राजा श्रीकंठ विद्याधर महाबलवान और चतुरंग सेना का स्वामी था। उसके यहाँ सब रानियों में प्रधान पट्टरानी श्रीमती थी। सो वह महारूपवती, गुणवती और धर्मपरायण थी। नित्यप्रति चार संघ को भक्ति-पूर्वक आहारादिक दान देती थी। एक दिन राजा, रानीसहित श्री जिनमन्दिर गया और जिनदेव की स्तुति वन्दना करके पीछे फिरा तो वहाँ परम दिगम्बर मुनिराज को विराजमान देखकर नमस्कार किया और समीप बैठा। श्रीगुरु ने धर्मवृद्धि दी और संसार से पार उतारनेवाले जिनधर्म का उपदेश दिया। इससे राजा आदि बहुत

लोगों ने यथायोग्य व्रत लिये और अपने-अपने आवास स्थानों को आये और यथायोग्य धर्म पालने लगे।

पश्चात् तीव्र मोह के उदय से राजा ने श्रावक के व्रतों को छोड़ दिया और लक्ष्मी, एश्वर्य, रूप, कुल, बल और तरुणावस्था के मद में उन्मत्त होकर मिथ्यात्वियों के बहकाने से वह मिथ्या देव, धर्म और गुरु की सेवा करने लगा तथा जैनधर्म का निन्दक हो गया। एक दिन वह राजा अपने सात-सौ वीरों को साथ लेकर वन क्रीड़ा को गया था, सो वहाँ एक गुफा में बाईस परीषह के सहनेवाले ध्यानारूढ़ एक मुनिराज को देखा, जिनका शरीर बहुत क्षीण (दुर्बल) हो रहा था, धूल से भर रहा था और डांस, मच्छर आदि लग रहे थे।

वे ऐसे निश्चल विराजमान थे कि जिनके पास सूर्य का उजाला भी पहुँच नहीं सकता था। सो राजा ने उन महामुनि को देखकर अपशकुन माना और 'कोढ़ी है कोढ़ी है' ऐसा कहकर समुद्र में गिरवा दिया। परन्तु मुनि का मन किंचित् भी चलायमान नहीं हुआ। पश्चात् राजा को कुछ दया उत्पन्न हुई, सो फिर पानी में से मुनि को निकलवा लिया और अपने घर आया। कुछ दिनों के बाद राजा फिर से वनक्रीडा को गया और सामने एक क्षीण शरीर, धीर-वीर, परम तत्त्वज्ञानी मुनि को आते देखा। वे रत्नत्रय के धारी महामुनिराज एक मास उपवास के अनन्तर नगर की ओर पारणा (आहार) के लिए जा रहे थे। सो राजा ने क्रोधित होकर मुनि से कहा -

अरे निर्लज्ज! बेशरम! तूने लज्जा को कहाँ छोड़ दी है, जो

नंगा फिर रहा है? मैला शरीर, भयावान रूप बनाकर डोलता है। 'मारो! मारो! अभी इसका सिर काट लो' ऐसा कहकर खड्ग लेकर उठा और मुनि का बड़ा उपसर्ग तथा हास्य किया। पश्चात् कुछ दया उत्पन्न हुई, तब उनको छोड़कर अपने महल को ही चला आया। ऐसे मुनि को बारम्बार उपसर्ग करने से उसने बहुत पाप बाँधा।

एक दिन किसी पुरुष ने आकर सब मुनियों के उपसर्ग का समाचार रानी श्रीमती से कह दिया, सो सुनते ही रानी को बड़ा दु:ख हुआ। यह बार-बार सोचने लगी - हे प्रभो! मेरा कैसा अशुभकर्म उदय में आया जो ऐसा पाप करनेवाला भर्तार मुझे मिला। कर्म की बड़ी विचित्र गति होती है। यह इष्ट वियोग, अनिष्ठ संयोग कराया करता है। सो अब इसमें किसको दोष दूँ? मैंने जैसा पूर्व में किया था, वैसा पाया।

इस तरह रानी ने बहुत कुछ अपने कर्मों की निन्दा-गर्हा की और उदास होकर पलंग पर जा पड़ी। इतने में राजा आया और सुना कि रानी उदास पड़ी है। तुरन्त ही रानी के पास आकर पूछने लगा - प्रिये! तुम क्यों उदास हो? जो कुछ कारण हो, सो मुझसे कहो। ऐसी कौन-सी बात अलभ्य है, जो मैं प्राप्त नहीं कर सकता हूँ? परन्तु रानी ने कुछ भी उत्तर न दिया। वैसी ही मुरझाये हुए फूल के समान रह गयी। उसे कुछ भी सुध न रही। तब एक दासी बोली - हे नरनाथ! आपने श्रावक के व्रत छोड़ दिये और मुनि की निन्दा की, उन्हें पानी में गिरवा दिया और बहुत उपसर्ग किया है, सो सब समाचार किसी ने

आकर रानी से कह दिये हैं। इसी से वे दु:खित होकर मुरझाकर पड़ रही हैं।

राजा यह बात सुन बहुत लज्जित होकर अपनी भूल पर विचारने और पश्चाताप करने लगा। पश्चात् मधुर वचनों से रानी को समझाने लगा - हे प्रिये! मुझसे निसन्देह बड़ी भूल हुई। यथार्थ में मैंने मिथ्यात्व कर्म के उदय से मिथ्या गुरु, देव, धर्म को सेवन किया और उसी की कुशिक्षा से सुमति छोड़कर कुमति को ग्रहण किया। मैं महापापी हूँ। मैंने मिथ्या अभिमान के वश होकर बड़े-बड़े अनर्थ किये हैं। मैं अपने आप ही अन्धकूप में गिर गया। प्रिये! अब मुझे नरकपंथ से बचाओ। मैं अपने किये कर्मों की निन्दा करता हूँ, उन पर पश्चाताप करता हूँ और उनसे छूटने की इच्छा से श्री जिनदेव से बार-बार प्रार्थना करता हूँ। तब रानी दयावन्त हो बोली-

महाराज! आपने धर्मकथा को छोड़कर मिथ्यात्व सेवन किया, सो भला नहीं किया। आपने धर्माधर्म की पहिचान बिना किये ही मुनिराज को कष्ट दिया। देखो, धर्मशास्त्र में कहा है कि जो कोई जिनशासन के व्रतों की, जिनगुरु, जिनबिम्ब और जिनधर्म की निन्दा करता है, सो निश्चय से नरक जाता है। वहाँ पर मारण, ताडन, छेदन, भेदन, शूली रोहणादि दु:खों को भोगता है। वहाँ कोई शूली पर चढ़ाते हैं, घाणी में पेलते हैं, संडासी से मुख फाड़कर तांबा, शीशा गला-गलाकर पिलाते हैं। लोहे की पुतली लाल-लाल गरम कर शरीर से भिड़ा देते हैं, इत्यादि नाना प्रकार के दु:ख भोगने पड़ते हैं। इसलिए हे स्वामिन्! अब

कोई पुण्य के उदय से यदि आपको अपने अशुभ कृत्यों से पश्चाताप हुआ है तो श्री मुनि के पास जाकर जिनव्रत लो जिससे अशुभकर्मों की निर्जरा हो।

यह सुनकर राजा, रानी के कहे अनुसार जिन मन्दिर में गया और प्रथम ही जिनदेव की स्तुति की। पश्चात् श्रीगुरु को नमस्कार करके बैठा और बोला – हे दीनदयालु प्रभो! मैंने बड़ा पाप किया है। अब आपकी शरण में आया हूँ, सो मुझे अब नरक में गिरने से बचा लीजिये।

तब श्रीगुरु ने धर्म का स्वरूप समझाकर कहा – राजन्! तू सम्यग्दर्शनपूर्वक श्री सिद्धचक्र का व्रत पाल, इससे तेरे अशुभ कर्म का क्षय होगा, यह कहकर व्रत की विधि बताई। सो राजा ने मिथ्यात्व को त्यागकर सिद्धचक्र व्रत और सप्त शील (तीन गुणव्रत+चार शिक्षाव्रत) अंगीकार किये। फिर अपने स्थान को आया और उसी समय से धर्मध्यान में सावधान हो विधिपूर्वक व्रत पालने लगा। वह नित्यप्रति जिनेन्द्रदेव की अष्ट प्रकार से पूजा करता और दान देता था।

जब आठ वर्ष पूर्ण हो गये, तब उसने विधिपूर्वक भावसहित उद्यापन किया और अन्त समय में संन्यासमरण कर स्वर्ग में जाकर देव हुआ और रानी श्रीमती भी संन्यासमरण कर स्वर्ग में देवी हुई। और भी सब यथायोग्य व्रत के प्रभाव से मरणकर अपने-अपने कर्मानुसार उत्तर गति को प्राप्त हुए। सो वह (राजा श्रीकंठ का जीव) स्वर्ग से चयकर तू श्रीपाल हुआ है और रानी श्रीमती का जीव चयकर मैनासुन्दरी हुई है।

इसलिए हे राजन्! तूने जो सात-सौ वीरोंसहित मुनिराज की 'कोढ़ी कोढ़ी' कहकर ग्लानि की थी, उसी के प्रभाव से तू उन सब सखोंसहित कोढ़ी हुआ। और मुनि को पानी में गिराया। उससे तू भी सागर में गिरा; फिर दयालु होकर निकाल लिया, इसी से तू भी तैरकर निकल आया। तूने मुनि की 'भ्रष्ट-भ्रष्ट' कहकर निन्दा की थी, इसी से भाण्डों ने तेरा अपवाद उड़ाया। तूने मुनि के मारने को कहा था, इसी से तू शूली के लिए भेजा गया और दु:ख पाया, इसलिए हे राजा! मुनि की तो क्या, किसी भी जीव की हिंसा दु:ख की देनेवाली होती है और मुनि घातक तो सातवें नरक जाता है। तूने पूर्वजन्म में श्रावक के व्रतोंसहित सिद्धचक्र व्रत का आराधन किया था, जिससे वह विभूति पाई और पूर्वभव के संयोग से ही श्रीमतीजी का जीव मैनासुन्दरी और इस पवित्र सिद्धचक्र व्रत का लाभ तुझे हुआ।

यह सुनकर श्रीपाल ने मुनि महाराज की बहुत स्तुति-वन्दना की और अपने भवान्तर की कथा सुनकर पापों से विशेष भयभीत हो धर्म में दृढ़ हुआ। पश्चात् श्रीगुरु को नमस्कार कर निज महलों को आया और पुण्ययोग से प्राप्त हुए विषयों को न्यायपूर्वक भोगने लगा।

इस तरह बहुत दिन तक इन्द्र के समान ऐश्वर्यधारी श्रीपाल ने इस पृथ्वी पर नीतिपूर्वक राज्य किया। आपके राज्य में दीन दु:खी कोई भी मालूम नहीं होते थे।

●●●

राजा श्रीपाल का दीक्षा लेना

एक दिन राजा श्रीपाल सुखासन से बैठे हुए दिशाओं का अवलोकन कर रहे थे कि उल्कापात हुआ, (बिजली चमकी) उसे देखकर सोचने लगे - अरे! जैसे यह बिजली चमककर नष्ट हो गयी, ऐसे ही एक दिन ये सब मेरे वैभव, तन, धन, यौवनादि भी विनश जायेंगे। देखो संसार में कुछ भी स्थिर नहीं है। मेरी ही कई अवस्थाऐं बदल गई हैं। अब अचेत रहना योग्य नहीं है। इन विषयों के छोड़ने के पहिले ही मैं इन्हें छोड़ दूँ क्योंकि यदि इन्हें न छोड़ूंगा तो भी ये नियम से मुझे छोड़ ही देंगे। तब मुझे दु:ख होगा और आर्तध्यान से कुगति का पात्र हो जाऊँगा। इस प्रकार विचारने लगे और वैराग्य अभिवृद्धि हेतु बारह भावनाओं का चिन्तन करने लगे।

विश्व में जो वस्तु उपजी, नाश तिन का होयगा।
तू त्याग इनहिं अनित्य, लखकर नहीं पीछे रोयगा।।

अनित्य भावना

मृत्यु के समय कोई भी सहाई न होगा। किसके शरण जाऊँगा। कोई भी बचानेवाला नहीं है।

देव इन्द्र नरेन्द्र खगपति और पशुपति जानिये।
आयु अंतहि मरें सब ही, शरण किसकी ठानिये।।

अशरण भावना

संसार दु:खरूप जन्म-मरण का स्थान है।

पिता मर निज पुत्र होवे, पुत्र मर भ्राता सही।
परिवर्तरूपी जगतमांही, स्वांग बहु धारे यही।।

संसार भावना

इसमें जीव अनादि काल से अकेला ही भटकता है।

स्वर्ग नर्कहिं एक जावे, राज इक भोगे सही।
कर्मफल सुखदु:ख सब ही, अन्य को बांटे नहीं।।

एकत्व भावना

कोई किसी का साथी नहीं है।

देह जब अपना न होवे, सेव जिंह नित ठानिये।
तो अन्य वस्तु प्रतछ पर हैं, किन्हें निजकर मानिये।।

अन्यत्व भावना

मिथ्यात्व के उदय से यह इस घृणित शरीर में लोलुप हुआ विषयसेवन करता है।

मलमूत्र आदि पुरीष जामें, हाड मांस सु जानिये।
घिन देहगेह जु चाम लपटी, महा अशुचि बखानिये।।

अशुचि भावना

और राग-द्वेष करके कर्मों का उपार्जन करता है।

मन वचन काय त्रियोग द्वारा, भाव चंचल हो रहे।
तिनसे जु द्रव्यऽरू भाव आस्रव, होय मुनिवर यों कहे।।

आस्रव भावना

यदि यह मन, वचन, काय को रोककर अपने आत्मा में लीन हो तो कर्म से न बँधे।

योग को चंचलपनो, रोके जु चतुर बनाय के।
तब कर्म आवत रुकें निश्चय, यह सुनो मन लाय के।।

संवर भावना

व्रत, तप, चारित्र धारण करे तो पूर्व संचित कर्म भी क्षय हो जावें।

व्रत समिति पंच अरु गुप्ति तीनों, धर्म दश उर धार के
तप तपें द्वादश सहें परिषह, कर्म डारें जार के।।

निर्जरा भावना

तो इस अनादि मनुष्याकार लोक जो तीनों भागों में (ऊर्ध्व, अधो और मध्य) विभाजित है और ३४३ घन राजू का क्षेत्रफल वाला है, के भ्रमण से बच सकता है।

अधो ऊरध मध्य तीनों, लोक पुरुषाकार है।
तिन में सुजीव अनादि से, भरमें भरें दुखभार है।।

लोक भावना

संसार में और सब वस्तुएँ मिलना सहज है और अनन्त बार मिली हैं, परन्तु रत्नत्रय ही नहीं मिला है।

विश्व में सब सुलभ जानो, द्रव्य अरु पदवी सही।
कह दीपचन्द्र अनंत भव में, बोधिदुर्लभ है यही।।

बोधिदुर्लभ भावना

सो ऐसे रत्नत्रय धर्म को पाकर, यह जीव अवश्य ही संसार भ्रमण से बच सकता है।

कल्पतरू अरु कामधेनु, रत्न चिंतामणि सही।
यांचे बिना फल देते नाहीं, धर्म है बिन इच्छ ही।।

धर्म भावना

इस प्रकार संसार के स्वरूप का विचारकर तुरन्त ही वे अपने ज्येष्ठ पुत्र धनपाल को बुलाकर कहने लगे– हे पुत्र! अब मुझसे राज्य नहीं हो सकता, अब मैं अपनी अनादि काल से

खोई हुई असल सम्पत्ति (स्वात्मलाभ) प्राप्त करूँगा। तुम इस राज्य को सम्हालो। तब पुत्र बोला –

हे पिता! मैं अभी बालक हूँ। मैंने निश्चिंत होकर अपना काल खेलने में ही बिताया है। राज्यकार्य में कुछ भी अनुभव नहीं है। सो यह इतना बड़ा कार्य मैं कैसे करूँगा? आपके बिना मुझसे कुछ न हो सकेगा।

तब राजा बोले – हे पुत्र! सदा से यही नीति चली आई है कि पिता का राज्य पुत्र ही करता है, सो तू सब योग्य है। फिर क्यों चिन्ता करता है? राज्य ले और प्रेमपूर्वक नीति से प्रजा को पाल। जब पुत्र धनपाल ने आज्ञाप्रमाण राज्य करना स्वीकार किया, तब श्रीपालजी ने कुँवर धनपाल को राज्यपट्ट देकर तिलक कर दिया और भले प्रकार शिक्षा देकर कहा –

हे पुत्र! अब तुम राजा हुए। यह प्रजा तुम्हारे पुत्र के समान है। 'यथा राजा तथा प्रजा' होती है, इसलिए मिथ्यात्व का सेवन नहीं करना। पर धन और पर त्रिय पर दृष्टि नहीं डालना। अपना समय व्यर्थ विकथाओं में नहीं बिताना। इन्द्रियों को न्याय विरुद्ध प्रवर्तन करने से रोकना, परोपकार में दत्तचित्त रहना। इत्यादि वचन कहकर आप वन की ओर चले गये।

आपके जाते ही प्रजा में हाहाकार मच गया। लोग कहने लगे कि अब 'चम्पापुरी की शोभा गई। आहा! ये महाबली दयावन्त प्रजापालक महाराजा कहाँ चले गये, जिनके राज्य में हम लोगों ने शान्तिपूर्वक जीवन का आनन्द भोगा। महाराज

क्यों चले गये? क्या हम लोगों से उनकी सेवा में कुछ कमी हो गयी? या और कोई कारण हुआ? राजा हम लोगों को क्यों छोड़ गये?' इत्यादि कोई कुछ, कोई कुछ कहने लगे, तब राजा धनपाल ने सबको धैर्य दिया। मैनासुन्दरी आदि आठ हजार रानियों ने जब स्वामी के वन जाने के समाचार सुने तो वे भी साथ हो गईं और कुन्दप्रभा भी साथ हुई। और बहुत से पुरजन भी साथ होकर वन में गये। सो जब कोटीभट्ट वन में पहुँचे तो वहाँ पर महामुनिश्वर बैठे देखे, उनको नमस्कार कर प्रार्थना की कि 'हे नाथ! मैं अनादि काल का दु:खिया हूँ, सो अब कृपाकर मुझे भवसागर से निकालिये अर्थात् जिनेश्वरी दीक्षा दीजिये।'

तब श्रीगुरु ने कहा – 'हे वत्स! यह तुमने अच्छा विचार किया है। जन्म-मरण की सन्तति इसी से छूटती है, सो तुम प्रसन्नतापूर्वक जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करो। तब श्रीपाल ने सब जनों से क्षमा कराकर तथा आपने भी सबको क्षमाकर दीक्षा लेने के लिए वस्त्राभूषण उतार कर श्रीगुरु को नमस्कार किया। श्रीगुरु ने इन्हें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पंचाचारों तथा दिगम्बर मुनियों के २८ मूलगुणों तथा अन्य सब आचरण का भेद समझाकर दीक्षा दी। सो इनके साथ सात सौ वीरों ने भी दीक्षा ली। और भी बहुत से स्त्री पुरुषों ने यथाशक्ति व्रत लिये, तब रानी कुन्दप्रभा और मैनासुन्दरी, रयनमंजूषा, गुणमाला, चित्ररेखादि रानियों ने भी आर्यिका के व्रत लिये।

●●●

श्रीपाल मुनि को केवलज्ञान की प्राप्ति

राजा श्रीपाल दीक्षा लेकर बाईस परीषहों को सहते, दुर्द्धर तप करते, तेरह प्रकार के चारित्र को पालते और देश-विदेशों में भव्य जीवों को सम्बोधन करते हुए कुछ काल तक विचरते रहे। तप से शरीर क्षीण हो गया। कभी गिरि, कन्दर, कभी सरोवर के तट और कभी वृक्ष के नीचे ध्यान लगाते। शीत-उष्मादि परीषह तथा चेतन-अचेतन वस्तुओंकृत घोर उपसर्गों को सहते हुए तपश्चरण करने लगे। सो कुछेक काल बाद घातिया कर्मों का क्षय होते ही उनको केवलज्ञान प्रगट हुआ। उस समय देवों का आसन कम्पायमान हुआ, सो इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने आकर गंधकुटी की रचना और सुर नर, विद्याधरों ने मिलकर प्रभु की स्तुति कर केवलज्ञान का उत्सव किया।

इस प्रकार वे श्रीपालस्वामी अपने प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा लोकालोक के समस्त पदार्थों को हस्तरेखावत् देखने-जाननेवाले बहुत काल तक भव्य जीवों को धर्म का उपदेश करते रहे। पश्चात् आयु कर्म के अन्त में शेष अघातिया कर्म का भी नाशकर एक समय मात्र में परम धाम (मोक्ष) को प्राप्त हुए और सम्यक्त्वादि आठ तथा अनन्त गुणों को प्राप्त कर संसार, संतति, जन्म, जरा, मरण का नाश कर अविनाशी पद प्राप्त किया। धन्य हैं, वे पुरुष जो इस भव जल को शोषण कर परमात्म पद प्राप्त करें।

सिद्धचक्र व्रत पालकर, पंच महाव्रत मांड।
श्रीपाल मुक्तहिं गये, भव दुःख सकल बिछांड।।

सिद्धचक्र व्रत धन्य है, धन पालक श्रीपाल।
फल पायो तिन व्रत्त को, 'दीप' नवावत भाल।

मैनासुन्दरी आर्यिका ने भी घोर तप किया। सो अन्त में संन्यास मरण कर सोलहवें स्वर्ग में स्त्रीलिंग छेदकर बाईस सागर आयु का धारी देव हुआ। वहाँ से चय मोक्ष जावेगा। कुन्दप्रभा रानी ने भी तप के योग से संन्यास मरण कर सोलहवें स्वर्ग में देव पर्याय पाई तथा रयनमंजूषा आदि अन्य स्त्री तथा पुरुषों ने भी जैसा-जैसा तप किया, उसके अनुसार स्वर्गादि शुभ गति को प्राप्त हुए।

●●●

इस प्रकार हे राजा श्रेणिक! श्रीपालजी का चरित्र और सिद्धचक्र व्रत का फल आपसे कहा। ऐसा श्री गौतमस्वामी के मुख में सिद्धचक्र व्रत का फल (श्रीपाल का चरित्र) सुनकर सम्पूर्ण सभा को अत्यानन्द हुआ। देखो, जिनधर्म और इस व्रत की महिमा कि कहाँ तो कोढ़ी श्रीपाल और कहाँ आठ दिन में कोढ़ दूर होकर कामदेव के समान रूप होना और सागर तिरना, लक्ष चोरों को बाँधना तथा और भी बड़े-बड़े आश्चर्य जैसे कार्य करना, आठ हजार रानियों और इन्द्र के समान बड़ी विभूति का स्वामी होना और इस प्रकार मनुष्य भव में यश, कीर्ति और सुखों को भोगकर अन्त में सकल कर्मों का नाशकर अविनाशी पद का प्राप्त होना। इसलिए जो कोई भव्य जीव जिनधर्म को धारण कर मन, वचन, काय से व्रतों को पालन करते हैं, वे भी इस प्रकार उत्तम गति को प्राप्त होते हैं।

●●●

सर्व धर्म को सार है, सम्यक् दर्शन ज्ञान।
अरु सम्यक् चारित्र मिल, यही मोक्षमग जान।।

कर त्रिशुद्ध या मग लगे, जो नर चतुर सुजान।
सो सुर नर सुख भोग के, अन्त लहें निर्वान।

जो नर बांचे भाव से, सुने सुनावे सार।
मन वांछित सुख सो लहें, अरु पावें भव पार।।

पंच परम पद पद प्रणमि, सरस्वती उर धार।
सरल देश भाषा करी, पद्य ग्रन्थ अनुसार।।

तीर्थंकर भज शल्य तज, ज्ञेय पदार्थ विचार।
जेष्ठ कृष्ण ग्यारस करी, कथा पूर्ण सुखकार।।

शब्द भेद जानो नहीं, पढ़ो न शास्त्र पुरान।
न्यूनाधिकता होय जो, क्षमा करो बुधवान।।

नरसिंहपुर है जन्म थल, जाति जैन परवार।
'दीपचन्द' वर्णी करी, भाषा बुद्धि अनुसार।।